क्रम

सम्पादकीय

गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज देश का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शोध संस्थान है। संस्थान ने अभी हाल ही में अपनी स्थापना के चालीस वर्ष पूरे किए हैं। इस अवधि में संस्थान ने सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण मुक़ाम हासिल किए हैं। यह संस्थान ज्ञान उत्पादन के क्षेत्र में तो काम करता ही है, शोध से निकले ज्ञान को जीवन में परिवर्तन का स्रोत बनाने में भी विश्वास रखता है। शोध, शिक्षण एवं सामाजिक परिवर्तन में अपनी सहभागिता की प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हुए यह संस्थान पिछले चार दशक से उत्तर भारत के वैचारिक जगत में हस्तक्षेप कर रहा है।

इस संस्थान में सामाजिक शोध में अन्तर्विषयक परिप्रेक्ष्य एवं प्रबन्धन को दृढ़ संकल्प के साथ बढ़ावा दिया जाता है ताकि व्यापक एवं एकीकृत दृष्टिकोण के साथ राष्ट्र निर्माण में विकास, शिक्षा एवं सांस्कृतिक पक्ष पर काम हो सके। यह संस्थान समाज को ज्ञान और सहज बुद्धि का ख़ज़ाना मानता है। संस्थान पिछड़े समुदायों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों, घुमन्तू और विमुक्त समुदायों और उनकी हसरतों, उनकी रोज़मर्रा की कठिनाइयों के बारे में सोचता है। इस सोच को वह अपने शोध के माध्यम से बाहरी दुनिया से साझा करता है।

एक लम्बे अन्तराल में कार्य करते हुए हमने यह महसूस किया है कि भारत के हिन्दी प्रान्तों में हो रहे शोध एवं अनुसन्धान को उसकी 'आत्म भाषा' में सामने लाने की ज़रूरत है। हिन्दी जन क्षेत्र में शोधार्थी और समाजवैज्ञानिक हिन्दी भाषा में लिख भी रहे हैं। ज़रूरत है उन्हें मंच देने की। 'अपना समाज, अपना ज्ञान, अपनी भाषा' की पुनर्प्राप्ति की दिशा में यह हमारा एक प्रयास है—*सामाजिकी* शोध पत्रिका का प्रकाशन। यह शोध पत्रिका त्रैमासिक होगी। इसे हम हिन्दी के महत्त्वपूर्ण प्रकाशक राजकमल प्रकाशन के सहयोग से एवं साथ होकर निकाल रहे हैं। *सामाजिकी* का यह प्रवेशांक मुख्यतया भारतीय समाज को समझने वाले चिन्तकों, विचारों और परिघटनाओं की ओर इशारा करता है।

विभिन्न समुदायों, समाजों और संस्कृतियों वाले एक देश के रूप में भारत की यात्रा बहुत रोचक एवं प्रेरणादायी रही है। सदियों से भारत के निवासी विभिन्न भाषाओं और धर्मों के साथ एक साझा भविष्य की ओर जाने का प्रयास करते रहे हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में इस प्रयास ने ज़ोर पकड़ा। पिछली दो शताब्दियों में भारत तेज़ी से बदला है लेकिन इस बदलाव को दर्ज करने के प्रयास उतने गहन नहीं हो सके हैं जितनी आवश्यकता थी। समाज-

विज्ञानियों द्वारा जो प्रयास हुए भी हैं, उनकी पद्धति, तर्कशीलता और सामग्री औपनिवेशिक संरचनाओं से प्रभावित रही है। इस परिस्थिति में भारत में एक ख़ास क़िस्म के 'भारतीय ज्ञान' का निर्माण हुआ जिसकी आधार-सामग्री भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों से कम से कम ताल्लुक़ रखती थी। यह भारतीय ज्ञान भी उनके अन्दरूनी दु:खों, भौतिक दिक़्क़तों और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को ठीक तरीक़े से सम्बोधित नहीं कर पाया है। वर्तमान में हम उस सन्दर्भ बिन्दु पर आकर खड़े हुए हैं जहाँ हमारे अतीत की उपलब्धियों और नाकामियों पर बात की जानी है, जहाँ हमारे वर्तमान की विभिन्न छवियों का विश्लेषण किया जाना है और भविष्य के लिए ऐसी राहें निकालनी हैं जिन पर चलने से कोई पीछे न छूट जाए।

इस समय भारतीय समाजविज्ञान और मानविकी के क्षेत्र में एक साथ तीन पीढ़ियाँ सक्रिय हैं जिनमें दुनिया के कुछ उम्दा समाजविज्ञानी, साहित्यकार, चिन्तक और लोकज्ञानी मौजूद हैं तो विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थानों में ऐसे शोधकर्ताओं की एक पूरी श्रृंखला है जो मानवीय जीवन के कष्टों, सफलताओं और गुंजाइशों पर नई राह खोलने वाला काम सामने ला रही है। इसी के साथ आशा बँधाने वाली एक पीढ़ी है जो 1980 के बाद पैदा हुई है जिसकी राजनीतिक और आर्थिक स्मृति में भारत देश बड़ी तेज़ी से बदला है। वह पीढ़ी अब अपनी पहली या दूसरी किताब प्रकाशित कर रही है और अपने शोधपत्रों के माध्यम से समाजविज्ञान की नई इबारत लिखना चाह रही है। यह शोध-पत्रिका 'एक विचार के रूप में भारत' पर विचार-विमर्श करने के साथ उसकी क्षेत्रीय भिन्नताओं पर भी उतना ही महत्त्व देने का इरादा रखती है। वे समूह या समुदाय जो किसी भी संरचना के सीमान्त पर हैं, उनके जीवन के बारे में यह लगातार बात करेगी।

एक शोध-पत्रिका के रूप में *सामाजिकी* इन तीनों पीढ़ियों को एक साथ एक साझी बौद्धिक परियोजना में शामिल करना चाहती है। यह शोध-पत्रिका पहले की शोध-पत्रिकाओं से इस आशय में विशिष्ट है कि यह किसी एक ख़ास विचार-प्रणाली को बढ़ावा देने में न तो विश्वास करती है न ही किसी ख़ास विश्वविद्यालय, शोध संस्थान, विभाग या व्यक्तियों के समूहों के अकादमिक विचारों को बढ़ावा देने के लिए किसी 'इन हाउस नॉलेज प्रोडक्शन' में बदल जाना चाहती है। यह शोध-पत्रिका उन सभी विचारों को सम्मान देना चाहती है जिनसे हमारे 'राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समय' की निर्मिति हो रही है।

हमने एक लम्बे समय से गोपीनाथ कविराज जैसे विद्वानों और चिन्तकों को भुला दिया है जिन्होंने भारत को समझने के लिए उसकी सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं और पद्धतियों पर लिखा, उसके आर्ष ग्रंथों का अध्ययन-मनन किया। उनके जीवन पर राधावल्लभ त्रिपाठी का लेख 'एक मनीषी की सारस्वत-साधना : गोपीनाथ कविराज का जीवन' इस अंक में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें राधावल्लभ त्रिपाठी ने लक्षित किया है कि डॉ. जॉनसन को बासवेल, प्रेमचन्द को उनके छोटे बेटे अमृतराय और शरच्चन्द्र को विष्णु प्रभाकर जीवनीकार के रूप में प्राप्त हुए, वैसा जीवनीकार गोपीनाथ कविराज को नहीं मिला। उन्होंने छह वर्ष (1914-1920) सरस्वती भवन में काम किया। लाइब्रेरियन का काम करते हुए भारतीय विद्या के क्षेत्र में अनुसन्धान और प्रकाशनों के द्वारा उन्होंने लाइब्रेरियन शब्द की नई परिभाषा ही रच दी। गंगानाथ झा की सेवानिवृत्ति के बाद वे संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य नियुक्त किए गए। वे 1964 से उत्तर प्रदेश में नव स्थापित योगतंत्र विभाग के अध्यक्ष भी रहे थे। राहुल सांकृत्यायन ने अपने एक ही जीवन में जिस तरह भारत के बौद्धिक जगत को राजनीतिक हलचलों और

रचनात्मक हस्तक्षेप से मथ डाला था, वैसा फिर कोई दूसरा भारतीय न हुआ। उनके इस अवदान को हितेन्द्र पटेल ने अपने लेख 'राष्ट्रीयता और 'इतिहास' दृष्टि : राहुल सांकृत्यायन का संघर्ष' में समेटने का काम किया है जहाँ राहुल के भारत के समाजों, समुदायों, संस्कृतियों और भाषाओं से सम्बन्धित विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह लेख अपने पाठकों से यह अपेक्षा करता है कि राहुल को व्यापक भारतीय सन्दर्भ में समझा जाए।

सामाजिकी का मानना है कि भारतीय सन्दर्भों को ठीक ढंग से समझने के लिए समाज-विज्ञानियों को उस सामग्री की ओर ध्यान देना होगा जो अभी तक उपेक्षित रही है। इसकी आधार-सामग्री से एक 'जन समाज विज्ञान' सृजित किया जा सकता है। अपने समय की नब्ज़ पहचानने वाले राही मासूम रज़ा का साहित्य ऐसा ही है जिस पर साहित्य की चौहद्दियों के अन्दर रहकर ही विचार नहीं किया जा सकता है। उनका उपन्यास *आधा गाँव* हमारे समकालीन इतिहास और समाज की बुनावट में हस्तक्षेप करता है। संतोष कुमार राय ने 'भारतीय मुस्लिम समाज में जाति और पितृसत्ता : साहित्य और इतिहास के वृत्तान्त' शीर्षक अपने लेख में इस उपन्यास का पुनर्पाठ किया है। उन्होंने भारतीय समाज में मुस्लिमों के शामिल होने, उनके द्वारा जाति-व्यवस्था को अपनाने और उसके अन्दर पेशे एवं उच्चता-क्रम की सामाजिकी विकसित कर लेने की एक गहन पड़ताल पेश की है।

कोविड विपदा ने हमारे समकाल को बदलकर रख दिया है। हमारे जीवन से 'ह्यूमन टच' ग़ायब हो गया है लेकिन कुछ साझा चिन्ताएँ और स्वप्न हैं जिन्हें हम सब अपने मन में धारण करते हैं। भक्त कवि, संत और चिन्तक रविदास ने अपने समय में आई महामारियों को बड़ी सजग दृष्टि से देखा था। श्रीप्रकाश शुक्ल ने मध्यकाल के इस कवि की 'विपदा के बीच एक सामूहिक लोक के स्वप्न' को अपने लेख 'महामारी का मानस और रविदास की निरीश्वरता' में रेखांकित किया है जहाँ कवि और कविता भारत की आम जनता के साथ खड़ी थी।

आशुतोष कुमार ने 'बाबा रामचन्द्र : गिरमिट अध्ययन के दुर्लभ स्रोत' शीर्षक लेख में सात समन्दर पार गिरमिटियों के जीवन और उससे भारत के जीवन-बोध के जुड़ाव एवं संलग्नता को ऐतिहासिक स्रोतों और अभिलेखागार-आधारित सामग्री की रोशनी में प्रस्तुत किया है। मनीषा चौधरी का लेख 'बदलता क्षेत्र, सिमटता परिवेश और संघर्षरत प्रजाति: ऊँट का इतिहास' मनुष्य और जानवर के आपसी प्रेम, भरोसे और देखभाल का सुन्दर वर्णन है। राजस्थान के पशुपालकों, ऊँट प्रजनकों, घुमन्तुओं, व्यापारियों, राजाओं और सामान्य जनता के बीच ऊँट की उपस्थिति को उन्होंने स्रोतों की व्यापक और विविध शृंखला के द्वारा विवेचित किया है। यह लेख उस ख़तरे की ओर आगाह भी करता है जब रेगिस्तान में ऊँट समाप्त हो रहे हैं और वे केवल पर्यटकों को सैर कराने के लिए ही बच रहे हैं।

चंद्रैया गोपानी ने अपने लेख 'दलित संगीत-परम्पराएँ : संस्कृति, पहचान और संगीत का निष्पादन' में तेलुगु प्रदेश की आन्तरिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिकी को दर्ज किया है। अपने इस लेख में उन्होंने बहुजनों के संगीत, उनके वाद्ययंत्रों की सामाजिक उपस्थिति को रेखांकित करते हुए हमारा ध्यान उन कोनों-अँतरों की ओर खींचा है जो शास्त्रीय संगीत की रूढ़िवादी धारणाओं के कारण हमसे ओझल रहे हैं। उन्होंने अपने लेख के माध्यम से कला और संगीत-परम्पराओं के विकास में समाज के सबसे निचले हिस्से के श्रम और ज्ञान के योगदान की सराहना करने की एक मार्मिक अपील भी की है। वे हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित कराना चाहते हैं कि एक समावेशी राष्ट्र के निर्माण के लिए संगीत की दुनिया में दलितों और उनके वाद्य-यंत्रों के योगदान को अभी पहचाना जाना बाक़ी है। इस राजनीतिक

और सांस्कृतिक प्रक्रिया में लोक परम्पराओं की सामग्री लोगों की आवाज़ में मिलकर मौलिक रूप से बदल जाती है। उनका यह परचा दलित अध्ययनों में एक सर्वथा नए लेकिन उपेक्षित दायरे की ओर संकेत करता है।

सामाजिकी का एक लक्ष्य उन विद्वानों के अकादमिक अनुभवों को दर्ज करना भी है जिनके काम ने समाजविज्ञान और मानविकी की समझ को स्पष्ट, धारदार और हस्तक्षेपकारी बनाया है। इस विषय पर हम समाजशास्त्री सतीश देशपांडे का एक साक्षात्कार प्रकाशित कर रहे हैं। इस साक्षात्कार में उन्होंने शिक्षा, ज्ञान और समाज के बारे में अपनी राय रखी है। बहुभाषी देशपांडे ने भारतीय भाषाओं में समाजविज्ञान के चिन्तन, लेखन और प्रकाशन के बारे में भी अपनी चिन्ताएँ साझा की हैं।

इस अंक में दो पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। दोनों समीक्षाएँ जल और पर्यावरण पर काम करने वाले विद्वानों की किताबों के बारे में हैं। दोनों की चिन्ता का कारण पर्यावरण की 'समावेशी सामाजिकी' है जहाँ कोई पीछे न छूट जाए, कोई प्यासा न रह जाए। अनुपम मिश्र और शेखर पाठक का लेखन इसी की कोशिश करता है। शेखर पाठक की किताब *दास्तान-ए-हिमालय* पर अरुण कुकसाल और अनुपम मिश्र की *बिन पानी सब सून* की समीक्षा शुभनीत कौशिक ने की है। यह दोनों किताबें हिमालय, उनसे निकलने वाली नदियों, जलाशयों और सबसे बढ़कर उस पर आश्रित मानव समुदायों की बात करती हैं।

इसी बीच अधिकांशतः कोरोना संकट और कभी-कभी कुछ स्वाभाविक कारणों से विद्वानों की एक पूरी श्रृंखला का दैहिक जीवन समाप्त हो गया। अब उनका केवल लिखा-पढ़ा हुआ बचा है। इस श्रृंखला में लाल बहादुर वर्मा का जाना हम सबके लिए दुःख का कारण है। अपने जीवन में उन्होंने इतिहासकार और सार्वजनिक बुद्धिजीवी की भूमिका को बहुत शिद्दत से निभाया। हिन्दी भाषा और उसकी सार्वजनिक उपस्थिति को उन्होंने अपनी किताबों और सबसे बढ़कर अपने व्याख्यानों में लगातार बढ़ावा दिया, कर्मशील विद्यार्थियों और नौजवानों की एक श्रृंखला तैयार की। उनके जीवन और कृतित्व पर शेखर पाठक ने लिखा है। हम सभी विद्वानों, साहित्यकारों, संस्कृतिकर्मियों और भारत के सार्वजनिक जीवन से जुड़े व्यक्तियों का नाम नहीं दे पा रहे हैं, उन सभी की स्मृतियों को नमन।

मुझे विश्वास है कि यह शोध-पत्रिका समाजविज्ञान से जुड़े विद्वानों, शोधार्थियों, छात्रों, पत्रकारों, सामाजिक परिवर्तन में लगे कार्यकर्ताओं एवं नीति-निर्माताओं के लिए उपयोगी साबित होगी।

बद्री नारायण

एक मनीषी की सारस्वत-साधना : गोपीनाथ कविराज का जीवन

राधावल्लभ त्रिपाठी

गोपीनाथ कविराज का जन्म 7 सितम्बर,1887 में वर्तमान बांग्लादेश के ढाका ज़िले के एक गाँव धमराई में हुआ। गोपीनाथ के जन्म के पाँच महीने पहले उनके पिता वैकुंठनाथ, जो कलकत्ता में एम.ए. के छात्र थे, चल बसे। अनाथ गोपीनाथ का लालन-पालन उनके एक रिश्तेदार कालाचाँद सान्याल ने किया। कालाचाँद के कोई सन्तान न थी, उनका गोपीनाथ पर बड़ा स्नेह था, और उन्होंने तय कर लिया था कि अपनी ज़मीन-जायदाद गोपीनाथ के नाम कर देंगे। लालची रिश्तेदारों ने उनकी हत्या कर दी, और गोपीनाथ फिर अनाथ हो गए। माँ उनके साथ थीं। गोपीनाथ अध्ययन के लिए घर-गाँव छोड़कर ढाका, कलकत्ता, जयपुर और काशी की ख़ाक छानते रहे, माँ अकेली बेटे की चिन्ता में गाँव में खटती रही। गोपीनाथ की जीवनयात्रा और सारस्वत-साधना में कहीं-न-कहीं उनकी माँ अनवरत रूप से उपस्थित रही हैं।

भगवती प्रसाद सिंह की *एक मनीषी की लोकयात्रा* कविराज जी के जीवन, व्यक्तित्व और अवदान का अध्ययन है। भगवती प्रसाद सिंह ने उनकी माँ पर नहीं के बराबर लिखा है। दरअसल जिस तरह डॉ. जानसन को बासवेल, प्रेमचन्द को उनके छोटे बेटे अमृतराय और शरच्चन्द्र को विष्णु प्रभाकर जीवनीकार के रूप में प्राप्त हुए, वैसा जीवनीकार गोपीनाथ कविराज को नहीं मिला। भगवती प्रसाद सिंह की पुस्तक उनके जीवन के उत्तरार्ध की घटनाओं, उनके साथ हुए वार्तालापों और उनके पत्रों का बहुत अच्छा दस्तावेज़ है, पर वह गोपीनाथ जी के अन्त:संसार में प्रवेश करके उनके अनुभव और सोच-समझ के विकास का आकलन नहीं बन सकी है। जीवन के उत्तरार्ध में कविराज जी जिस स्तर पर जी रहे थे, उसमें जीवनी लिखने का अर्थ कुछ अलग ही था। भगवती प्रसाद सिंह जब उनकी जीवनी लिखने के संकल्प के साथ उनसे मिले, तो कविराज जी ने उनको अपनी दृष्टि से जीवनी लिखने का मर्म इस तरह समझाया था : 'जीवनी का अर्थ है—माइ पिक्चर इन द हैंड्स ऑफ़ डिवाइन'—ईश्वर के हाथ में रख दी गई मेरी तस्वीर। जीवन की छोटी से छोटी घटना में कोई

न कोई रहस्य छिपा होता है।[1]

उस समय गोपीनाथ एक अभेद्य आभामंडल में विराज चुके थे, जिसे भेदकर उनसे अन्तरंग होना माँ आनन्दमयी जैसे उसी स्तर के साधक को छोड़कर अन्य किसी के लिए सम्भव न था। उनके पास श्रद्धा के सुमन लेकर ही पहुँचा जा सकता था। पर इतना तो भगवती प्रसाद सिंह के द्वारा दिए गए विवरणों से आभास होता ही है कि युवा गोपीनाथ के भीतर माँ से दूर रहकर माँ के लिए कैसी ललक और चिन्ता रहती होगी। जैसे ही उन्हें नौकरी मिली और काशी में ठिकाना हो गया, गोपीनाथ जी ने पहला काम माँ को गाँव से लाकर साथ रखने का किया। तब से अपनी मृत्यु तक माँ उनके साथ थीं। आदि शंकराचार्य भी अपनी जिस माँ को पाँच साल की उम्र में गाँव छोड़कर संन्यासी बने, उसकी स्मृतियाँ अपने भीतर सँजोये रहे थे और उन्हीं को *सौन्दर्यलहरी* और *आनन्दलहरी* जैसे अपने काव्यों में व्यक्त करते रहे थे। गोपीनाथ तांत्रिक साधना में प्रवृत्त हुए, मातृशक्ति के उपासक बने—इसमें उनकी अपनी माँ का अवदान तो है ही।

प्राथमिक शिक्षा धमराई और कंठालिया में पूरी करके वे ढाका आ गए, जहाँ दसवीं कक्षा की पढ़ाई करके 1905 में 18 वर्ष की आयु में कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बचपन में उन्होंने पाणिनीय व्याकरण के साथ पातंजल महाभाष्य का अध्ययन किया, ढाका के जुबली ब्वाय स्कूल में अध्ययन करते हुए इन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य भी ख़ूब पढ़ा, शेक्सपियर के सारे नाटक, मिल्टन, बायरन,वड्र्सवर्थ आदि के सारे काव्यों से वे परिचित हुए। पर इसी समय मलेरिया ज्वर ने उन्हें आ घेरा और उनकी पढ़ाई में एक वर्ष का व्यवधान हो गया। रहस्यानुभूतियाँ उन्हें होती रहती थीं, बंगला में कविताएँ वे ख़ूब लिखते थे।

आर्थिक समस्या मुँह बाये खड़ी थी, बंगाल की जलवायु भी स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं लग रही थी। ऐसे में जयपुर के महाराजा कॉलेज की जानकारी मिली। जयपुर के दीवान संसार चन्द्र और महाविद्यालय के प्राचार्य संजीवन गांगुली बंगाल से थे। बंगदेश (आज के बांग्लादेश) ने गोपीनाथ को अनाथ कर दिया था, जयपुर शहर ने उन्हें अपनाया। 1500 किलोमीटर की यात्रा करके वे 1906 में जयपुर पहुँचे। हरप्रसाद शास्त्री के अनुज मेघनाद भट्टाचार्य यहाँ अध्यापक थे। नवकृष्ण राय अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। इन सबसे घरौपा हुआ। अध्यापकों का उन्हें बड़ा स्नेह और आसरा मिला। उन्होंने और जयपुर के दीवान संसारचन्द्र ने गोपीनाथ की बड़ी मदद की। वड्र्सवर्थ की एक कविता 'द वर्ल्ड इज टू मच विथ अस' की एक बार गोपीनाथ ने जैसी व्याख्या की, उससे नवकृष्ण राय चकित रह गए। जयपुर में चार साल गोपीनाथ ने पढ़ाई की और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से 1910 में प्रथम श्रेणी में बी.ए. की डिग्री हासिल की। जयपुर उनकी ज्ञान-पिपासा को बुझाने के लिए अखंड स्रोत बना। ढाका के विद्यालय में अध्ययन करते हुए उन्होंने बंगला में जो कविताएँ रची थीं, उनके भावुकतामय संसार से वे यहाँ रहकर बाहर आए। महाराजा के पुस्तकालय का भरपूर उपयोग किया। तंत्र और दर्शन के ग्रंथों के उनके अध्ययन का अटूट सिलसिला यहीं से शुरू हुआ। इन विषयों पर केवल संस्कृत, अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं का साहित्य ही नहीं, ग्रीक, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन भाषाओं का साहित्य भी अनुवाद के माध्यम से उन्होंने पढ़ डाला। यहीं से उनकी आश्चर्यजनक मेधा और स्मृति का भी पता चलने लगता है। यह पाया गया कि वे जो पढ़ते हैं, उसका सारा सन्दर्भ अचूक और प्रामाणिक रूप से तत्काल बता सकते हैं।

बी.ए. हो चुकने के बाद गोपीनाथ तेईस साल की उम्र में काशी आ गए। 1976 में 12

जून के दिन अपनी मृत्यु होने तक फिर वे काशी में रहे। काशी में वे 1910 में क्वींस कॉलेज के प्राचार्य डॉ. आर्थर वेनिस के शिष्य बने। वेनिस साहब की उन पर अपार अनुकम्पा थी। उनकी सलाह पर ही गोपीनाथ ने स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास, मुद्राशास्त्र और अभिलेख शास्त्र को चुना। वेनिस साहब ने उनको संस्कृत के ग्रंथों का अलग से अध्ययन करने की भी सलाह दी। ब्रह्मसूत्र पर *भामती टीका* वेनिस स्वयं उन्हें पढ़ाते थे, न्यायदर्शन के ग्रंथों के अध्ययन के लिए गोपीनाथ उस समय के दिग्गज पंडित महामहोपाध्याय वामाचरण भट्टाचार्य के पास जाते थे। गोपीनाथ अपने आवास देवनाथपुरा से चलकर दो मील की दूरी पर दो बार महाविद्यालय जाते और आते। वेनिस साहब सुबह उन्हें अपने बँगले पर अभिलेखीय साहित्य पढ़ाते, दोपहर में ब्राउन साहब की कक्षा के लिए उन्हें कॉलेज फिर जाना पड़ता, जो जर्मन, फ्रेंच, पालि और प्राकृत भाषाएँ पढ़ाते थे। वामाचरण भट्टाचार्य जी के पास पढ़ने इसके अलावा वे अलग से जाते। 1911 में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम.ए. पूर्वार्द्ध की परीक्षा दी। इस अध्ययन के लिए शरीर को जितना कष्ट गोपीनाथ देते रहे, उसके लिए उनका शरीर बना नहीं था। नतीजतन परीक्षा होते ही उन्हें इलाज के लिए कलकत्ता आना पड़ा। कलकत्ता से वे पुरी चले गए। बीमारी ने ऐसा घेरा कि अगले साल जून 1912 में ही काशी लौटना हो सका। अध्ययन में लगभग दो साल का अन्तराल हो गया। पर इसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि आचार्य नरेन्द्रदेव जो उनसे कनिष्ठ थे, उनके सहपाठी हो गए। कार्यक्षेत्र में दोनों बाद में एक दूसरे से बहुत अलग हो गए, पर दोनों में उस समय जो स्नेह-सम्बन्ध पनपा, वह बना रहा।

डॉ. वेनिस शिष्यवत्सल अध्यापक थे। लम्बी बीमारी के बाद गोपीनाथ को देखकर उन्हें अपने इस शिष्य की कठिनाइयों का आभास हुआ। उन्होंने छात्रावास में एक कमरा गोपीनाथ के नाम आवंटित कर दिया। अब गोपीनाथ की पढ़ाई अधिक सुविधाजनक स्थितियों में फिर से जारी हुई। एम.ए. उत्तरार्ध में उनके पर्चे बहुत अच्छे गए। मौखिक परीक्षा डॉ. वेनिस तथा युगपुरुष रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के सुपुत्र डी.आर. भंडारकर ने ली। प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते हुए गोपीनाथ ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। गर्मी की छुट्टियाँ बिताने के लिए गोपीनाथ नैनीताल में डॉ. वेनिस के साथ थे। डॉ. वेनिस ने उन्हें सलाह दी कि साधोलाल छात्रवृत्ति देने के लिए कृतज्ञता ज्ञापन हेतु वे मुंशी माधोलाल से मिल लें, जो उस समय नैनीताल में ही थे। ठीक इसी समय गोपीनाथ को नौकरी के दो प्रस्ताव तार से मिले—एक लाहौर कॉलेज का था, दूसरा महाराजा कॉलेज के प्राचार्य संजीवन गांगुली का। गांगुली जी ने उनसे अजमेर के मेयो कॉलेज में प्राध्यापक के पद पर तुरन्त कार्यभार ग्रहण करने का अनुरोध किया था। गोपीनाथ ने अपने गुरु डॉ. वेनिस से पूछा कि क्या करना चाहिए? वेनिस जी ने कहा—तुम्हें अभी कुछ वर्ष संस्कृत शास्त्रों पर शोधकार्य करना चाहिए। छात्रवृत्ति का भी आश्वासन डॉ. वेनिस ने उन्हें दिया। गोपीनाथ ने दोनों नौकरियों के प्रलोभन त्याग दिए।

डॉ. वेनिस के प्रभाव से उन्हें संस्कृत कॉलेज के सरस्वती भवन में ग्रंथाध्यक्ष की नौकरी मिल गई। सरस्वती भवन हस्तलिखित ग्रंथागार के रूप में हाल ही में स्थापित हुआ था। गोपीनाथ कविराज ने छह वर्ष (1914-1920) सरस्वती भवन में काम किया। इस अवधि में सरस्वती भवन गोपीनाथ कविराज का और गोपीनाथ कविराज सरस्वती भवन के पर्याय बन गए। वे एक ऐसे निराले ग्रंथाध्यक्ष थे, जिन्हें अपने ग्रंथागार की एक-एक पुस्तक की समग्र जानकारी थी। उन्होंने लाइब्रेरियन का काम करते हुए भारतीय विद्या के क्षेत्र में अनुसन्धान

और प्रकाशनों के द्वारा लाइब्रेरियन शब्द की नई परिभाषा ही रच दी। गोपीनाथ जी के बाद इस परिभाषा को चरितार्थ करने वाला दूसरा लाइब्रेरियन शायद ही कोई हुआ हो। सरस्वती भवन के काम के अलावा गोपीनाथ अध्यापन भी करते रहे। गंगानाथ झा की सेवानिवृत्ति के बाद में संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य नियुक्त किए गए। संस्कृत महाविद्यालय में प्राचार्य के पद के लिए एन.एस. दासगुप्ता भी उम्मीदवार थे पर नियुक्ति कविराज जी की हुई। सत्रह वर्षों तक संस्कृत कॉलेज में प्राचार्य के रूप में सेवा करते हुए गोपीनीथ 1937 में इससे सेवानिवृत्त हुए।

1964 में उत्तर प्रदेश सरकार ने नव स्थापित योगतंत्र विभाग के अध्यक्ष का दायित्व उन्हें सौंपने का निर्णय लिया। शिक्षामंत्री कमलापति त्रिपाठी ने स्वयं व्यक्तिगत रूप से उनसे यह दायित्व स्वीकार करने का आग्रह किया। उन्हें यह छूट दी गई कि वे विभाग का सारा कामकाज अपने निवास से ही कर सकते हैं। 1964 से 1969 तक पाँच वर्ष गोपीनाथ ने इस पद पर कार्य करते हुए तंत्रशास्त्र के लुप्त ग्रंथों की छानबीन करके उनका सम्पादन और प्रकाशन किया। 1976 में 89 वर्ष की आयु में वाराणसी में वे दिवंगत हुए। महाप्रयाण के समय उनके मुख से 'माँ, माँ!'—यह पुकार निकली। कविराज जी को दु:ख बहुत झेलने पड़े आजीवन। अनाथ जन्मे, युवावस्था संघर्ष करने में बीत गई। कुछ व्यवस्थित हुए, घरबार बसा, तो बड़े लड़के का निधन हो गया। कविराज उसकी पुत्रवधू और पौत्र की ज़िम्मेदारी निभाते रहे, बड़े होने पर पौत्र का विवाह किया। इस बीच माँ चल बसीं, फिर पत्नी भी साथ छोड़ गईं।

2

छात्रावस्था में ही उन्हें दिव्य अनुभूतियाँ होने लगी थीं। बंगला भाषा में उनकी रहस्यवादी कविताओं में इनकी झलक मिलती है। 1906 में, जब कविराज 19 वर्ष के रहे होंगे, अरविंद घोष कलकत्ता आए, और नेशनल कॉलेज के प्राचार्य बनाए गए। इसी अवधि में वे *वंदे मातरम्* नाम से पत्रिका का सम्पादन भी करते रहे। गोपीनाथ कविराज *वंदे मातरम्* के नियमित पाठक थे, वे अल्बर्ट म्यूज़ियम के मैदान में बैठकर मित्रों के साथ राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करते। देशबन्धु चितरंजन दास तथा स्वाधीनता संग्राम से जुड़े अन्य नेताओं के लेखों से इनकी राष्ट्रीय भावधारा बलवती हो गई। यद्यपि स्वतंत्रता संग्राम में कविराज जी कभी सक्रिय नहीं हुए, पर उन्होंने जो भारतीय विद्या पर काम किया, वह राष्ट्र के सांस्कृतिक नवजागरण की भूमिका बनाने के लिए किया।

दिसम्बर 1906 में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे, गोपीनाथ जी राजस्थान के प्रतिनिधिमंडल के साथ इसमें भाग लेने के लिए कलकत्ता आए। नौरोजी के अतिरिक्त इसमें विपिन चन्द्र पाल, तिलक, लाल मोहन घोष, सुरेंद्रनाथ बनर्जी आदि के साथ भी प्रतिनिधियों ने विमर्श किया। अरविंद घोष की लेखमाला 'द स्टोरी ऑफ़ अलीपुर जेल' एक पत्रिका में धारावाहिक छपी, जिसमें उन्होंने जेल में प्रथम वासुदेव दर्शन का वर्णन भी किया था। गोपीनाथ जी ने ब्रजेंद्रनाथ सील से इस लेखमाला तथा अरविंद के वासुदेव दर्शन के विषय में विस्तार से चर्चा की। 1911 में उनका नरेन्द्रदेव से सम्पर्क हुआ जो घनिष्ठ होता गया। क्वींस कॉलेज में अध्ययन करते समय वे क्रान्तिकारी शचींद्रनाथ सान्याल के सम्पर्क में रहे। दोनों में गहरी मित्रता हो गई। उनका मानना था कि भारत का राजनैतिक ही नहीं सांस्कृतिक और धार्मिक उद्धार भी आवश्यक है। शचींद्र के माध्यम से ही शशिभूषण

सान्याल से उनका मिलना सम्भव हुआ। जयपुर में उनका सम्पर्क चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा पं. शिवराम से हुआ। चन्द्रधर जी से अच्छी पटी, क्योंकि वे बंगला भी जानते थे, तथा बंगला के कतिपय ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद कर चुके थे। उन्हीं के माध्यम से गोपीनाथ का परिचय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा से हुआ।

भगवती प्रसाद सिंह ने *एक मनीषी की लोकयात्रा* में लगभग पचास तांत्रिक साधकों, आध्यात्मिक विभूतियों और योगियों का वर्णन किया है, जिनके सम्पर्क कविराज जी से रहे। ब्रजेंद्रनाथ सील अपने समय के दार्शनिक थे, वे कविराज जी के पिता के परम मित्र थे। दार्शनिकों में भगवानदास से उनका वर्षों तक सम्पर्क रहा। देवरहा बाबा से परोक्ष सम्पर्क उनका रहता था।[2] इन विभूतियों में बड़ा नाम स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती का है। 1918 में गोपीनाथ जी ने परमहंस स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती से दीक्षा ली। तब से वे निरन्तर तांत्रिक साधना करते रहे, पर अपने गुरु की तरह उन्होंने कभी अपनी सिद्धियों और चमत्कारों का प्रदर्शन नहीं किया। 1928 में माता आनन्दमयी के सम्पर्क में वे आए।

उनके भक्तों, प्रशंसकों और शिष्यों ने उनके सान्निध्य में होने वाले अलौकिक अनुभवों का वर्णन किया है। गोपीनाथ जी ने स्वयं भी संकेत रूप में अपनी रहस्यानुभूतियों का ज़िक्र किया है। अपने गुरु विशुद्धानन्द द्वारा नाभि से कमल निकालकर दिखाने की घटना का वर्णन कविराज जी ने भी किया।[3] बम्बई से जबलपुर आते समय रेल में इनके कम्पार्टमेंट में आग लग गई, आसपास के कूपे जल रहे थे, कविराज के कूपे तक आते-आते आग स्वतः बुझ गई और उन्हें विदित भी नहीं हुआ। वे सो रहे थे। चन्द्रशेखर स्वामी ने 1954 में उनसे शैव तथा शाक्त दर्शनों का अध्ययन किया, तथा 1964 में उनके मार्गदर्शन में साधना आरम्भ की। तदनंतर उन्हीं से इन्होंने अखंड महायोग की दीक्षा ली।[4] जीवन के अन्तिम सात वर्ष (1969-76) ये माता आनन्दमयी के आश्रम में रहे।

तांत्रिक साधना और सारस्वत साधना दोनों की जो सहवर्तिता गोपीनाथ जी ने अपने जीवन में निभाई, उसके उदाहरण कम ही मिलेंगे। वे जहाँ भी रहते, वहीं उनका आश्रम और गुरुकुल बन जाता। देश-भर से आए जिज्ञासुओं, शोधार्थियों और साधकों के मार्गदर्शन के लिए उनका निवास सदा खुला रहता। वे हर व्यक्ति को कहते कि कल आना। अगले दिन वे उसकी शंकाओं के समाधान के लिए भीतर से अपने आपको तैयार कर चुके होते थे। उनके निधन पर माँ आनन्दमयी ने कहा—"दूसरा गोपीनाथ कविराज नहीं होगा।"[5]

गोपीनाथ कविराज को 1934 में महामहोपाध्याय उपाधि प्राप्त हुई, 1964 में वे पद्मविभूषण से अलंकृत हुए। इलाहाबाद, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नालंदा विश्वविद्यालय तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय—इन पाँच विश्वविद्यालयों ने उन्हें डी.लिट्. की उपाधि प्रदान की। एशियाटिक सोसायटी ने उन्हें रवींद्रनाथ पदक प्रदान किया। उनकी पुस्तक *तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि* को साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली ने साहित्य अकादेमी पुरस्कार दिया। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य परिषद् लखनऊ ने उनके सम्मान में *ऋषि कल्पन्यास* नाम से अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया। इन सभी संस्थाओं के उपाधि-वितरण समारोह या दीक्षांत समारोहों में कविराज नहीं गए, यहाँ तक कि कुलपति उनके घर पर अनुरोध करने आए कि आप मानद उपाधि स्वीकार करने के लिए दीक्षांत समारोह में पधारें, कविराज अपने इस नियम पर अटल रहे कि कोई उपाधि लेने वे कहीं नहीं जाएँगे। लखनऊ में उनके अभिनन्दन ग्रंथ का लोकार्पण उनकी ग़ैरमौजूदगी में उनका चित्र रखकर किया गया।

कविराज जी कोई भी उपाधि लेने व्यक्तिगत रूप से भले न गए हों, पर पी-एच.डी. की मौखिक परीक्षा लेने अवश्य जाते थे। किसी ने उनसे पूछा कि आप इतने सम्मान से दी जाने वाली उपाधियाँ लेने नहीं जाते, और पी-एच.डी. की मौखिक परीक्षा लेने चले जाते हैं—ऐसा क्यों? उन्होंने कहा : शोधार्थियों की मौखिक परीक्षा लेने अवश्य जाता हूँ क्योंकि उनके भविष्य का प्रश्न है।

स्वामी विशुद्धानन्द के 1937 में निधन के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके आश्रम का सारा दायित्व सँभालने के लिए गोपीनाथ जी से बड़ा आग्रह किया, जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वाराणसी आश्रम से *विशुद्धवाणी* नाम से पत्रिका का सम्पादन वे अवश्य करते रहे। उनकी असाधारण धारणा शक्ति की चर्चा करते हुए राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ ने तो यहाँ तक लिखा है कि उन्होंने सरस्वती भवन पुस्तकालय के एक लाख ग्रंथों का अनुशीलन कर लिया था, और उन्हें उन सब ग्रंथों का मृत्युपर्यंत स्मरण भी था।[6]

3

कविराज जी ने हिन्दी, बंगला, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत में विपुल साहित्य रचा। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी और बंगला में उनकी पुस्तकों व लेखों की सूची भगवती प्रसाद सिंह की पुस्तक में पैंतीस पृष्ठों में फैली है। इन चारों भाषाओं में वे, समान अधिकार से निरन्तर लिखते रहे।

प्रिंसेस ऑफ़ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, प्रिंसेस ऑफ़ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़ तथा योगतंत्र सीरीज़ की शृंखलाओं का सम्पादन करके उन्होंने अनेक दुर्लभ पांडुलिपियों तथा अनुसन्धानात्मक कृतियों का प्रकाशन किया। सिद्धों तथा नाथों की परम्परा पर कविराज का प्रवर्तक कार्य है। वे शैवदर्शन और शाक्तदर्शनों तथा इनसे जुड़ी धार्मिक परम्पराओं के भी प्रामाणिक व्याख्याकार हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्धों तथा सम्पादित ग्रंथों के अलावा *आस्पेक्ट्स ऑफ़ इंडियन थॉट, बिब्लियोग्राफी ऑफ़ न्याय वैशेषिक लिटरेचर, भारतीय संस्कृति और साधना, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, तांत्रिक साहित्य तथा बिब्लियोग्राफी ऑफ़ तांत्रिक लिटरेचर* उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

4

विविध सम्प्रदायों, साधना-पद्धतियों तथा दर्शन और चिन्तन के प्रस्थानों में मूलभूत एकता का अनुसन्धान कविराज जी की व्याख्या-पद्धति की अपनी विशेषता है। जीवन और साधना में उन्होंने जो सामरस्य हासिल किया, उसे अपने अध्ययन और अनुसन्धान में भी विनियुक्त किया। केवल शैव और शाक्ततंत्र ही नहीं, बौद्ध तथा जैन दर्शन और इस्लाम तथा यीशु धर्म की परम्पराओं का भी विवेचन उन्होंने इसी दृष्टि से किया।

जीवन और जगत् के नकार पर टिकी विचारधाराएँ उनके लिए अग्राह्य थीं, और वेदांत या सांख्य जैसे दर्शन भी अपने आप में अपूर्ण थे। उन्होंने अपनी साधना-पद्धति विकसित की और एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन की परिकल्पना प्रस्तुत की, जिसे उन्होंने 'अखंड महायोग' कहा। 1938 ई. से लेकर इस अखंड महायोग की साधना स्वयं करते रहे। अखंड महायोग को पूर्ण अद्वैतवाद भी कहा गया है। बुद्ध को भी कविराज ने अद्वैतवादी माना है। कविराज जी एक तरह के कट्टर अद्वैतवाद का प्रवर्तन करते हैं, जिसके सामने 'शंकर का ब्रह्माद्वैतवाद

भी म्लान-सा प्रतीत होता है', क्योंकि 'उसमें द्वैताभास वर्जित नहीं है' (*कल्याण* के शिवांक में प्रकाशित कविराज जी का लेख, पृ. 84)। इस दृष्टि से कविराज जी द्वैत भक्ति और अद्वैत भक्ति के तारतम्य का प्रतिपादन करते हैं। अद्वैत भक्ति अज्ञानमूलक द्वैत भक्ति से भिन्न है। वेदांत को पूर्ण नहीं माना, अखंड महायोग के पथ का आविष्कार किया।

आगम सम्मत परामुक्ति ही पूर्णत्व है, सांख्य और वेदांत की मुक्ति में पूर्णता नहीं, *तंत्रालोक* में जयरथ भी यही कहते हैं। अखंड महायोग में साधना तथा मुक्ति की परिकल्पना दो भूमिकाओं पर की गई है—व्यष्टिसाधना तथा समष्टि साधना और व्यक्ति की मुक्ति तथा समूह की मुक्ति। विश्वसृष्टि तथा मानवदेहसृष्टि में अभेद है। दोनों का साम्य योगसम्मत श्रीचक्र से है। श्रीचक्ररचना, विश्व की रचना तथा मनुष्य की सृष्टि तत्त्वत: एक ही व्यापार है। परमसत्ता चिदानन्दरूपिणी अविकारी अनादि अनंत स्वप्रकाशरूपिणी है। वह शिवशक्ति के अभेद में अवस्थित है। वह जगत् का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। शिव के रूप में वह निष्क्रिय और उदासीन है, शक्ति के रूप में विश्व की उपादान है। शक्ति संकोच प्रसारणशील है तथा स्पन्दमयी है। शिव शक्ति के बिना निस्पन्द हैं, शक्ति शिव के बिना भी अवस्थित है। अग्नि और सोम इसी शक्ति के दो रूप हैं। अग्नि दु:खमय है, सोम आनन्दमय। अग्नि विभक्त वस्तु को विभक्त करता चलता है, सोम अविभाग स्थापित करता है। अग्नि प्रकाशरूप है, सोम विमर्शरूप है। अग्नि का कार्य संहार है, सोम का कार्य सृष्टि। दोनों के साम्य की स्थिति सूर्य है। सृष्टि और संहार के मूल में अखंड सृष्टि ही सूर्य है। चिच्छक्ति से हार्द नामक कला उत्पन्न होती है। सृष्टि के समस्त 36 तत्त्व कलामय हैं। सृष्टि का शक्ति में अभिन्न रूप से रहना बिन्दु की स्थिति है, विभक्तवत् प्रतिभास होना विसर्ग की स्थिति है।

चिच्छक्ति का प्रकाश अंश अम्बिका तथा विमर्श अंश शान्ता कहलाता है। अम्बिका के वामा, ज्येष्ठा तथा गौरी, ये तीन रूप हैं, शान्ता के इच्छा, ज्ञान और क्रिया, ये तीन रूप हैं। समष्टिरूप में अम्बिका और शान्ता एक हैं, व्यष्टिरूप में ये त्रिविध बिन्दु बनते हैं। भोग और मोक्ष की साम्यावस्था ही मुक्ति है। भोक्ता का भोग से एकीभाव ही भोग भी है और मोक्ष भी, भोग की दशा में मुक्त होने का सा अनुभव हो तब मुक्ति कही जाएगी। समष्टिरूप मूल बिन्दु ही परावाक् है। यही परमात्मा या सदाशिव भी कहा जाता है। वामा और इच्छा शक्ति के सामरस्य में प्रकाशमान बिन्दु पश्यंती वाक् है, ज्येष्ठा और ज्ञान के सामरस्य में अवस्थित बिन्दु मध्यमा वाक् है, रौद्री और क्रिया के सामरस्य में अवस्थित बिन्दु वैखरी वाक् है।[7] वाक् बिन्दु का कार्य है, परावाक् शब्दब्रह्म ही है, ऐसा अभिनवगुप्त कहते हैं।[8]

वे उपनिषदों में प्रोक्त विद्याओं को वैदिक धारा के तंत्र मानते हैं। इसी तरह बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित आनापान की क्रिया का वे अजपा की क्रिया से साम्य स्थापित करते हैं।[9] चन्द्रशेखर ने उनके अखंड महायोग के सिद्धान्त की तुलना एक देवालय से की है। षड्दर्शन इसकी नींव हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव तथा बौद्ध दर्शन इसकी चार भित्तियाँ हैं। कविराज का समग्र दर्शन इसका शिखर या कलश है, तथा अखंड महायोग इस मन्दिर का अधिष्ठातृदेव है। कविराज ने अपनी दीक्षा-पद्धति में गुरुमंडल की कल्पना की। अलग-अलग सिद्धों के भी अपने मंडल हैं, ये सिद्ध अपने शाक्तदेह में अवस्थित हैं, तथा साधकों का सूक्ष्म रूप से मार्गदर्शन करते हैं। खंड योग व्यक्तिगत साधना से सम्भव है, अखंड योग महाशक्ति की अनुकम्पा से ही सम्भव है। खंड योग में व्यष्टिचैतन्य का ईश्वर से योग होता है, अखंड महायोग में समष्टि चैतन्य का भागवत चेतना में आत्यंतिक लय होता है।

अखंड योग में कविराज जी ने विश्व के रूपांतरण की परिकल्पना की। महाप्रकाश समष्टि देह, समष्टि प्राण, समष्टि मन को रूपान्तरित करता है। योग को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं—"जैसे ही पराचेतना तथा जीव के बीच का आवरण हट जाता है, भास्वर तथा शाश्वतिक रूप से अपने अस्तित्व के प्रति सचेत आनन्दमय विशुद्ध चैतन्य व्यक्त हो जाता है, जिसमें इसके दोनों पक्ष चिरन्तन माधुर्य से अन्वित होकर समवेत हो जाते हैं, वास्तविक अर्थ में यही योग है।" भागवत अनुकम्पा में ऐसी अनंत शक्ति है कि विषय, विषयी तथा प्रत्येक कर्म का माध्यम, ज्ञान की प्रक्रिया और आनन्द, सब आत्मरूप में भी जाने जाने लगते हैं। "जिस व्यक्ति में अपनी इच्छा को भीतर से परखने की अन्तर्दृष्टि है, उसी में उस भागवत इच्छा का आविष्कार करने की क्षमता सम्भव है, जिसमें वैश्विक व्यवस्था का स्रोत समाया हुआ है, जो वैयक्तिक अस्तित्व को परिचालित करता है। तब वह देख पाता है कि सामान्य इच्छा की तरह विशेष इच्छा का केन्द्रीय स्थान है। इस दृष्टि से ईश्वर उसे प्रेम और महाकरुणा के रूप में प्राप्त होते हैं और यही वैश्विक व्यवस्था की परिपूर्ति है।" "पूर्ण ब्रह्म अखंड रूप में अपने आप में विद्यमान है। उसका अनुभव करने के लिए योगी को कालराज्य का अतिक्रम करके उसमें प्रवेश करना पड़ता है। यह अत्यंत कठिन व्यापार है परन्तु सम्भव है, आवश्यक है कि आरोहण प्राप्त कर महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर योगी महाप्रेम साधन के लिए अवतरण करे। इसमें बहुत गम्भीर रहस्य है,...महाशक्ति से युक्त होकर महाप्रकाशरूप ब्रह्म में प्रविष्ट होने पर...उन्हें लौटना पड़ता है। इस अवतरण का उद्देश्य विशुद्ध प्रेम साधना है, यह प्रेम साधना मनुष्य लोक में होती है दिव्य लोक में नहीं।

"इस प्रकार का योग इस समय पर्यंत कभी नहीं हुआ, क्योंकि यह होने पर जगत् की इस प्रकार की स्थिति नहीं होती। इसी योग में अन्ततोगत्वा जगत् का वैविध्य रहने पर भी भेद नहीं रहता, एक की प्राप्ति से सब की प्राप्ति, चाहे पूर्ण रूप से हो या आंशिक रूप से तभी हो सकती है, जब समष्टि या महासमष्टि दृष्टि से सम्भव जगत् से तादात्म्य प्रतिष्ठित हो जाए।" महायोग में समक्ष विक्षिप्त भावों का एक महाभाव में प्रतिष्ठित होना, शिव का शक्ति के साथ योग होना, आत्माओं का परस्पर योग होना, लोक और लोकोत्तर का परस्पर योग होना, सब तरह के अभावों का भावरूप में अखंड तत्त्व में विलय—यह गोपीनाथ जी के मत का सार है।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के मंत्र के अनुसार सभी भारतीय दर्शन इसी सत्य का निरूपण करते हैं। यहाँ तक कि सांख्य में भी पतंजलि के सूत्र सत्त्वपुरुषयोः सिद्धिसाम्ये कैवल्यम्—के द्वारा प्रकृति के रूपांतरण को इंगित किया गया है। शैवागम और शाक्तागम में अन्तर बताते हुए वे कहते हैं कि शैवागम के पितृभाव के स्थान पर शाक्तागम में मातृभाव कल्पित किया गया (शिवांक : 86)। दोनों में तत्त्वभेद नहीं, पद्धतिभेद है। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है तथा शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। दोनों की साम्यावस्था तत्त्वातीत 37वाँ तत्त्व है।

माँ का स्वरूप भावातीत है—महाभाव स्वरूपिणी माँ अनंत प्रकारों से अनंत भावों का संगम और उद्गम होकर भी वास्तव में समस्त भावों के परे हैं। माँ के उस तुरीयातीत स्वरूप को कौन ग्रहण कर सकता है।[10]

विश्वशक्ति के स्पन्द की अभिव्यक्ति है।

गोपीनाथ कविराज का होना हमारे लिए विशेष अर्थ रखता है। वे एक ऐसे जीवन्मुक्त के उदाहरण हैं, जो मुक्त रहकर भी लोकोपकार से विरत नहीं हुए। उपनिषदों में ऐसे जीवन्मुक्त के उदाहरण राजा जनक विदेह कहे गए हैं। नरसिंह राव लिखते हैं—"पंडित

गोपीनाथ कविराज ने हमें दिखा दिया कि आध्यात्मिक परिपूर्णता की प्राप्ति के लिए मनुष्य को कैसे जीवन बिताना चाहिए, उन्होंने आध्यात्मिक प्रतीति के आलोक में अपना जीवन बिताया। भौतिक संसार की सीमाओं को वे समझते थे, पर इसे उन्होंने त्याज्य नहीं समझा। इसके विपरीत जो कोई भी उनके पास जाता, उसे वे इसी संसार में रहकर सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य का पथ दिखाते रहे।"[11]

सन्दर्भ

1. भगवती प्रसाद सिंह (1987) : 8.
2. भगवती प्रसाद सिंह (1987) : 424.
3. भगवती प्रसाद सिंह (1987) : 127.
4. जयदेव सिंह तथा अन्य (1986) : 9.
5. जयदेव सिंह तथा अन्य (1986): 13.
6. जयदेव सिंह तथा अन्य (1986) : 2
7. शाक्तदृष्ट्या शक्तितत्त्वविमर्श : 154-55.
8. तंत्रालोक : 10.256.
9. गोपीनाथ कविराज (2000) : 354.
10. जयदेव सिंह तथा अन्य (1986) : 25.
11. जयदेव सिंह तथा अन्य (1986) में नरसिंहराव की भूमिका।

सन्दर्भ ग्रंथ

गोपीनाथ कविराज का साहित्य।

गोपीनाथ कविराज (1963), *तांत्रिक वाङ्मय* में शाक्तदृष्टि, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

—(1963-1964), *भारतीय संस्कृति और साधना,* दो भाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

—(2000), *तांत्रिक साधना और सिद्धान्त,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

—(1972), *तांत्रिक साहित्य,* हिन्दी समिति लखनऊ, 1972।

—*शाक्तदृष्ट्या सृष्टि तत्त्व विमर्श, सागरिका त्रैमासिक* 1-2, पृ. 150-55।

सहायक ग्रंथ

जयदेव सिंह तथा अन्य(1986), *अर्चास्मृति,* महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज शताब्दी समारोह समिति, माता आनन्दमयी आश्रम, वाराणसी।

भगवती प्रसाद सिंह (1987), *एक मनीषी की लोकयात्रा,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

राष्ट्रीयता और 'इतिहास' दृष्टि : राहुल सांकृत्यायन का संघर्ष

हितेन्द्र पटेल

राष्ट्रीयता का प्रश्न और इतिहास दोनों को लेकर आज भारतीय बुद्धिजीवियों में एक विमर्श का दौर चल रहा है। पिछले कुछ वर्षों में इन दोनों विषयों को लेकर विवाद और भी गहराया है। आज़ादी के बाद से हाल-फ़िलहाल तक विवाद भले ही रहे हों, अधिकांश लोगों की राय यह थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में जिस दृष्टि ने भारतीय राजनीतिक एकता को व्यापक रूप से देश-भर में फैलाया था, उसको ही देश के लिए हितकारी माना जाना चाहिए। 1947 के बाद जब जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय सरकार बनी तो भी इसी दृष्टि को आगे ले जाते हुए, इसके साथ 'सेक्युलरिज़्म' को जोड़ते हुए एक आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय दृष्टि को शक्तिशाली बनाने पर ज़ोर था। इस विचारधारा को सुविधा के लिए हम 'इंडियन आइडियोलॉजी' कह सकते हैं। इसी विचारधारा से जो भारत का 'आइडिया' बना उसके अनुसार ही देश को समझने और आगे ले जाने की कोशिश को प्रगतिशील समाज ने माना। मोटे तौर पर इस दृष्टि को हम नेहरूवादी दृष्टि भी कह सकते हैं। जिन लोगों ने इस कांग्रेस की राष्ट्रीय विचारधारा और नेहरूवादी दृष्टि का वैचारिक विरोध किया उनमें वे लोग थे जो इस देश की राष्ट्रीयता और इतिहास की समझ में धर्म को महत्त्वपूर्ण समझते थे। उन्हें मोटे तौर पर हिन्दू राष्ट्रवादी विचारधारा से जोड़कर देखा गया है। यह वैचारिक ध्रुवीकरण इस तरह हुआ कि एक तरफ़ गांधी-नेहरू की कांग्रेसी राष्ट्रवादी दृष्टि और दूसरी तरफ़ सावरकर-श्यामाप्रसाद मुखर्जी को रखा गया। इस क्रम में यह भुला ही दिया जाता है कि उसी समय दोनों ओर से इन विषयों को दूसरे तरीक़े से समझने वाले चिन्तक रहे हैं जो राष्ट्रीयता और भारतीय इतिहास को दूसरी तरह से देखते हैं। जिनकी विचार-यात्रा से इन दोनों विषयों पर देखने की एक लोकधर्मी और गहरी दृष्टि मिलती है उनमें रवीन्द्रनाथ टैगोर और राहुल सांकृत्यायन (1893-1962) का नाम लिया जा सकता है। यहाँ मैं अपने आपको राहुल सांकृत्यायन तक सीमित रखूँगा।

राहुल सांकृत्यायन एक तरह से जवाहरलाल नेहरू के साथ-साथ ही जिए। दोनों का

भारत के राजनीतिक जीवन में प्रवेश 1920 के आसपास हुआ और 1960 के आसपास तक दोनों ने अपने को देश-दुनिया की राजनीति से बहुत सक्रिय रूप से जोड़े रखा। नेहरू और राहुल की राजनीतिक दृष्टियों के तुलनात्मक अध्ययन को धृष्टता भी माना जा सकता है, आख़िरकार एक देश के इतने बड़े नेता थे और दूसरे महज हिन्दी के एक लेखक। राहुल सांकृत्यायन की ख्याति इस रूप में सबसे अधिक है कि उन्होंने हिन्दी प्रदेश में मार्क्सवाद को अपने लेखन से लोकप्रिय बनाया और पाठकों को अपने अतीत से, उसकी बौद्धिक सम्पदा से और अपने इर्द-गिर्द सामन्ती-पूँजीवाद की जड़ता से परिचित करवाने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह काम उन्होंने दर्शन, साहित्य और इतिहास, तीनों क्षेत्रों में किया। कहते हैं कि जगत को समझने का प्रयत्न दर्शन बुद्धि द्वारा, साहित्य भावना द्वारा और इतिहास अनुभव के उपलब्ध विवरण के आधार पर करता है। राहुल ने बुद्धि, भावना और अनुभव, तीनों के क्षेत्र में काम करके ही सन्तोष नहीं किया। उनके जीवन का बड़ा उद्देश्य था इस ज्ञान को समाज को बेहतर बनाने के स्वप्न के साथ जोड़कर देखना। राहुल सांकृत्यायन एक ही जीवन में सनातनी, आर्य, फिर बौद्ध, फिर मार्क्सवादी और अन्त में स्वाधीनचेता भारतीय के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस क्रम में वे सिर्फ़ लेखक के रूप में नहीं एक चिन्तक के रूप में भी उभरते हैं। हिन्दी के प्रति स्वाभिमान और अपनी वैचारिकता के प्रति विश्वास से भरे इस महान पंडित को पाठकों का बहुत सम्मान मिला, और यह सम्मान आज भी कम नहीं हुआ है।

राहुल की वैचारिक यात्रा चकित कर देने वाली है लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने सनातनी, आर्यसमाजी, बौद्ध, मार्क्सवादी—सबको मिलाकर एक प्रगतिशील भारतीय दृष्टि पैदा करने की कोशिश की। इनमें से किसी एक धारा के लोगों का चुनाव करते तो वे उनके द्वारा आदर पाते लेकिन जोखिम लेते हुए वे अपनी ही राह पर चले। इस क्रम में वे इनमें से किसी के भी नहीं हैं और कोई भी उनको पूरा स्वीकार नहीं कर पाता है। उनके व्यक्तित्व के सम्यक् विश्लेषण के लिए उसी तरह की चेष्टाओं की ज़रूरत है जैसी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए की जाती रही है। अधिकतर लोग उनके बारे में उनके महान पांडित्य की, तिब्बत से प्राचीन सामग्री लाकर भारत-चर्चा के क्षेत्र में योगदान की और उनके वोल्गा से गंगा की चर्चा करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। ज़रूरत है उनके वैचारिक अवदान का विश्लेषण करने की, उसकी आलोचना की और उनकी पीड़ा के बहाने हिन्दी के बौद्धिक की त्रासदी को समझने की।

ऐसा क्यों है कि वे एक ही जीवन में इतनी दिशाओं की ओर गए? आरम्भिक जीवन के उनके संघर्षों की कथा के बारे में सब जानते हैं। इसलिए इस आलेख में बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख होने से ही बात शुरू करना उचित होगा। 1916 में बौद्ध धर्म की पुस्तकों के महत्त्व के प्रति वे एक बौद्ध विद्वान के सुझाव के कारण उन्मुख हुए। उस समय वे सनातन धर्म से आर्य धर्म की ओर बढ़ चले थे। यही वह समय था जब वे 1917 के रूसी क्रान्ति के बारे में भी उत्साह के साथ सोचने लगे थे! राहुल 1926 के बाद भदंत आनन्द कौशल्यायन की प्रेरणा से बौद्ध धर्म के प्रति प्रवृत्त हुए। 16 मई, 1927 से 1 दिसम्बर, 1928 तक वे श्रीलंका में रहे। इस दौरान वे एक समर्पित बौद्ध अध्येता थे और उन्होंने बौद्ध धर्म की बौद्धिक विरासत के लिए उल्लेखनीय कार्य किए। जब उन्होंने अपने बौद्ध होने की घोषणा की, उस समय भी उनको लगता था कि उनका झुकाव साम्यवाद के प्रति भी है! 1928 के दिसम्बर में लौटने के बाद एक जगह उन्होंने लिखा कि वे अब आर्यसमाजी नहीं थे। उनके ही शब्दों

में "उनका एक पाँव बौद्ध धर्म में था और दूसरा साम्यवाद में।"[1] अगले दस-बारह वर्षों तक बौद्ध राहुल सांकृत्यायन (यह नाम उन्हें 1930 में मिला जब वे बौद्ध हुए) ख़ूब घूमे, प्राचीन दुर्लभ बौद्ध ग्रंथों का संग्रह किया और प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा का गम्भीर परिचय प्राप्त किया। अगले चरण में वे मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में ज़्यादा रहे और यह प्रभाव उन पर अन्त तक बना रहा। हालाँकि सांगठनिक रूप से साम्यवादी दलों से उनका जुड़ाव 1942 के बाद थोड़ा कम हुआ। उसके बाद वे रूस में अध्यापन हेतु गए और वहाँ से लौटने के बाद उनके विचारों और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच एक अन्तर आया जिसके कारण उनका पार्टी से अलगाव हुआ। उनके जीवन के गम्भीर अध्येता विष्णु चन्द्र शर्मा ने लक्षित किया है कि 1939 तक राहुल जी की मानसिक प्रवृत्ति बुद्धि-प्रधान थी। इसके बाद वे साधारण लोगों के बीच श्रद्धा-प्रधानता के तत्त्व पर ध्यान दे रहे थे।[2] पार्टी से अलग रहकर भी वे पार्टी के हित में ही सोचते रहे। साम्यवादी पार्टियों के आपसी मतभेदों से दुखी भी होते थे पर यह स्पष्ट है कि 1947 से 1956 के महत्त्वपूर्ण वर्षों में उनके चिन्तन की भाव-भूमि और पार्टी की नीतियों के बीच एक अन्तर है। बाद में जब वे तकनीकी रूप से पार्टी से फिर से जुड़ गए थे तब भी वे अपने चिन्तन को पार्टी से नियंत्रित समझते हों पर ऐसा मानना कठिन है।[3]

राहुल बड़ी उम्मीदें और योजनाएँ लेकर अगस्त 1947 में भारत लौटे। इसके बाद 1961 में कोलकाता में उनके स्मृति-विलोप के बीच के चौदह-पन्द्रह सालों के उनके जीवन के बारे में अब तक चर्चा कम हुई है। इसी दौर में राहुल ने सबसे अधिक लिखा है। इस दौर में 'परिपक्व राहुल सांकृत्यायन' एक तरह से अपनी वैचारिक यात्रा का निचोड़ पेश करते हैं। मार्क्सवादी चिन्तक लुई अल्थूसर ने मार्क्स के लेखन को दो भागों में बाँटकर देखने की कोशिश की है। उनके हिसाब से मार्क्स के पहले चरण के लेखन में हेगेलियन प्रभाव है, और मार्क्स के चिन्तन का सबसे वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण उनका 1848 के बाद का लेखन है जिसे अल्थूसर परिपक्व मार्क्स के रूप में देखते हैं। राहुल सांकृत्यायन के सन्दर्भ में 1940 के दशक में परिवर्तन के सूत्र मौजूद हैं लेकिन 1947 के बाद जो उनका लेखन है, उसके साथ उनके पूर्ववर्ती लेखन का एक अन्तर दिखता है, ऐसा प्रस्तावित किया जा सकता है। यह परिवर्तन एकरेखीय नहीं है, पर अन्तर है, ऐसा मुझे लगता है। सम्भवत: इस दौर के लेखन में वे किसी संगठन या विचारधारा के बारे में कम और अपनी वैचारिक दृष्टि के अनुसार अधिक लिखते हैं। स्वाधीन भारत में राहुल ने जो कुछ सोचा, लिखा और जीवन के जैसे उनके अनुभव हुए, उनके बारे में चर्चा करने से वे लोग भी कतराते हैं जो उनके पहले के कार्यों के लिए उनकी सराहना करते नहीं थकते। भाषा, राष्ट्रीयता, धर्म आदि विषयों पर वे अलग तरीक़े से सोचते हैं। जो उन्हें ठीक लगता है उसको वे कहते हैं और इसकी परवाह नहीं करते कि साम्यवादी दल, उस समय की सरकार और साहित्यिक संगठन से जुड़े प्रभावशाली लोग उनकी बातों को किस प्रकार लेंगे। राहुल सांकृत्यायन के बारे में, उनके बौद्धिक संघर्ष में हिन्दी जगत के बौद्धिक इतिहास की बहुत सारी समस्याओं के बारे में विचार करने की गुंजाइश पैदा हो सकती है। अभी भी इतिहासकारों ने उनके जीवन में दर्शन, इतिहास और साहित्य की त्रिधारा में एक नए भारत के बनने के स्वप्न को समझने की ठीक से कोशिश नहीं की है। इस आलेख की परिधि में इस ओर जाना सम्भव नहीं है पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत के निर्माता कहे जाने वाले जवाहरलाल नेहरू के जन्म के चार साल बाद पैदा और दो साल पहले इस पृथ्वी से जाने वाले इस महापंडित के जीवन और इतिहास-दृष्टि, उनके बौद्धिक विकास का नेहरू के साथ तुलनात्मक अध्ययन करें तो

हो सकता है कि एक दूसरे प्रकार के, वैकल्पिक भारत-निर्माण का मानचित्र उभरे। इन दोनों के बीच भारत के अतीत, उपनिवेशयुगीन साम्राज्यवाद विरोध और नए भारत के उनके स्वप्न के बीच की समानता और अन्तर को देखना बहुत उपयोगी हो सकता है। इस आलेख में तीन विषयों—धर्म, भाषा, राष्ट्रीयता के कुछ प्रसंगों को उसके इतिहास के सन्दर्भ में रखकर राहुल सांकृत्यायन के बारे में टिप्पणी की गई है। साथ ही उनके लिए इतिहास की ज़रूरत और उसके बारे में सोचते हुए किस तरह एक बेहतर मानव-भविष्य के स्वप्न को जोड़ा गया है, उसके बारे में भी कुछ प्रसंगों की चर्चा की गई है।

राहुल के लिए इतिहास एक ज़रूरत को पूरा करने के लिए है। उन्होंने कई बार यह कहा है कि उन्होंने *जीने के लिए* उपन्यास 1938 में लिखने के बाद महसूस किया कि उन्हें ऐतिहासिक उपन्यास लिखना चाहिए क्योंकि हिन्दी में ऐसे लेखकों का अभाव है जो इस काम को ठीक से कर सकें। भगवतशरण उपाध्याय की लिखी 1941-42 की कहानियों को पढ़ने के बाद उन्होंने इसे देखा और अगर उपाध्याय इस तरह की पर्याप्त कहानियाँ लिखते तो राहुल इस ओर न जाते, ऐसा ख़ुद राहुल ने कहा है।[4] उनका उद्‌देश्य था—"अतीत के प्रगतिशील प्रयत्नों को सामने लाकर पाठकों के हृदय में आदर्शों के प्रति प्रेरणा पैदा करना।"[5] वे कहते हैं कि अगर यह उद्‌देश्य उनके सामने न रहता तो वे कहानी या उपन्यास नहीं लिखते। भगवतशरण उपाध्याय ने राहुल के इतिहास-लेखन के बारे में बहुत सकारात्मक टिप्पणी की है। उन्हें लगता है कि "महापंडित राहुल सांकृत्यायन की बहुमुखी प्रतिभा ने विविध दिशाओं में जो स्थायी उपलब्धियाँ हासिल की थीं, उन सबके मूल में सम्भवत: इतिहास ही था। साहित्य के क्षेत्र में उनके जो भी प्रयत्न हुए, उनका अधिकांश इतिहास के आधार पर उठा।... (राहुल की) प्राचीन की पकड़ इतनी सही, इतनी अनुसन्धानशील और इतनी मौलिक थी कि जहाँ वह बीते संसार की काया सहज ही अंगांगों सहित सिरज देती थी, वहीं वह एक ऐसी दिशा की ओर भी संकेत कर देती थी, जिधर का मार्ग लोगों को जाना न था।...इस दिशा में अपने प्रयत्नों में वे प्राय: निर्मम हो उठे, क्योंकि असत्य के वह शत्रु थे...पिछले युगों के भारतीय बौद्धिक नेताओं में एक प्रकार के असत्य का भी पोषण हुआ है, जिसके प्रभाव में वे...अन्धविश्वासों, प्रथाओं, असामाजिक संस्थाओं का समर्थन करते रहे हैं...राहुल जी ने मूल पर ही प्रहार किया है।"[6]

यह शोध का विषय हो सकता है कि राहुल सांकृत्यायन ने अतीत को समझने के लिए किस तरह से कोशिशें कीं। उनके लिए ऐतिहासिक स्रोतों की समझ पेशेवर इतिहासकारों की तरह ढर्राबन्द नहीं है और वे आम लोगों के प्रति विश्वास से भरकर अतीत-चिन्तन करते रहे और उन्हें कभी भी यह नहीं लगा कि मध्यवर्ग आम भारतीय लोगों से तत्त्वत: अधिक प्रगतिशील है। उनके पूरे साहित्य में और विशेषकर उनकी आत्मकथा और यात्रा-वृत्तान्तों में ऐसे अनेक सूत्र बिखरे पड़े हैं। लोक इतिहास के प्रसंग में उनके एक कथन कि "हर गाँव के टीले का एक इतिहास होता है" ने शोधार्थियों को बहुत प्रेरित किया है। पहले सनातनी, फिर आर्यसमाजी और फिर बौद्ध के रूप में जो कुछ उन्होंने अतीत से अर्जित किया, उसे व्यवस्थित रूप में वे लिख नहीं पाए। जब वे इतिहास लिखने लगे तब तक उनके ऊपर साम्यवादी प्रभाव बढ़ने लगा था।[7] कुछ समय तक यह मार्क्सवादी दबाव ज़्यादा रहा लेकिन इस आलेख के लेखक के अनुसार आगे के दौर के हिन्दू, आर्यसमाजी प्रभावों को राहुल ने पूरी तरह नहीं छोड़ा। इस न छोड़ने को कुछ लोग ग़लत तरीक़े से भी व्याख्यायित कर लेते हैं। हाल ही में राहुल पर अंग्रेज़ी में प्रकाशित पुस्तक में उन्हें 'हिन्दी राष्ट्रवाद' के समर्थक

के रूप में देखा गया है! कई विद्वानों ने उनके *मध्य एशिया का इतिहास* (तीन खंडों में) को दूसरे उपलब्ध स्रोतों पर अत्यधिक निर्भर बताया है लेकिन उस पुस्तक को लिखने की प्रक्रिया पर कमला सांकृत्यायन के विवरण पर अगर ध्यान दिया जाए तो लगता है कि इसके लिए भी राहुल जी ने बड़ी मेहनत की थी। अगर उन्हें समुचित सहयोग रूस में मिला होता तो वे और बेहतर प्रयास कर पाते।[8]

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ चीज़ें उनके अतीत-चिन्तन में बनी रहीं जिसको उसी रूप में लिख देने के कारण राहुल से उनके साम्यवादी मित्रों को भी दिक़्क़त हुई थी। कम से कम दो मुद्दे ऐसे हैं जिन पर वे अपने तरीक़े से सोचते रहे और तमाम दबावों के बावजूद उन्होंने अपने मत को नहीं बदला। वे हैं—भारतीय मुसलमान के भारतीयकरण और हिन्दी के मुद्दे। निश्चित रूप से राहुल साम्प्रदायिक दृष्टि से बहुत ऊपर थे और इस्लाम और भारतीय मुसलमानों के भारतीयकरण के सवाल पर बेबाकी से व्यक्त उनके विचारों को ध्यान से पढ़ने के बाद यह कहना ग़लत ही होगा कि वे साम्प्रदायिक सोच के व्यक्ति थे। वे उस समय के कई वामपंथी विचारों के लोगों की इस बात को नहीं मानते थे कि मुसलमानों की आलोचना न की जाए या इस्लाम के बारे में कुछ न कहा जाए क्योंकि इससे साम्प्रदायिक सौहार्द को ख़तरा पैदा होता है। लेकिन राहुल इसे नहीं मानते। जब वे रूस से भारत लौट रहे थे उस समय के बारे में उन्होंने जो लिखा है उसको पढ़ने से उनके विचारों का पता चलता है।

हिन्दी के बारे में भी उनकी राय उस समय के साम्यवादियों से अलग थी। राहुल हिन्दी ही नहीं सभी भारतीय भाषाओं के अधिकार के प्रति सचेत थे और कहीं से भी हिन्दी के अन्ध-समर्थक या उर्दू या अंग्रेज़ी विरोधी नहीं थे। वे अतीत चिन्तन करते हुए उन दिशाओं में गए हैं जहाँ से हम अपने अतीत के इतिहासकारों से बेहतर व्याख्या कर सकते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में जाति (नेशन) और धर्म की जैसी व्याख्या राहुल के पास है उससे हम लाभान्वित हो सकते हैं। हिन्दी प्रदेश के बौद्धिक इतिहास के आधुनिक पर्व के इतिहास-लेखन में भी उनकी दृष्टि से हमें मदद मिल सकती है।

राहुल के विचार, इतिहास के बारे में उनकी समझ और उनका संघर्ष

राहुल की अतीत के बारे में दृष्टि बहुत साफ़ थी। वे अतीत के ज्ञान का सम्मान करते थे और उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते थे। लेकिन वे अतीत से चिपके रहने के सख़्त ख़िलाफ़ थे। जब वे कम्युनिस्ट नहीं हुए थे उस समय भी इलाहाबाद में जवाहरलाल नेहरू की उपस्थिति में 1937 में उन्होंने कहा : "ज़्यादातर पुरानी पोथियों में 75 प्रतिशत तो बेवकूफ़ियाँ ही बेवकूफ़ियाँ भरी पड़ी हैं। हाँ, कहीं-कहीं अकल की बातें भी हैं।" पंडितों की नगरी काशी के बारे में उनका मत कठोर है। वे लिखते हैं : "इसमें सन्देह है, कि ऐतिहासिक काल अथवा पिछली सात शताब्दियों में काशी ने कभी देश और राष्ट्र की तत्कालीन या भावी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर माथापच्ची की हो। काशी ने देश को हमेशा पीछे की तरफ़ खींचने की कोशिश की। एक से एक प्रतिगामी पंडित और परिव्राजकों को उसने प्रदान किया।"[9]

राहुल के बारे में लिखे संस्मरण यह रेखांकित करते हैं कि 1947 के बाद जब पार्टी से उनकी दूरी बढ़ गई थी और उन्होंने अपने लेखन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया था, उनके विचारों को लेकर विद्वानों की असुविधा बढ़ गई थी। संकेत तो स्पष्ट रूप से उनके

चालीस के दशक के लेखन में भी हैं लेकिन यह पूरी तरह से स्पष्ट तब हुआ जब वे हिन्दी, इस्लाम, भारतीय इतिहास में लोक और बौद्धिक परम्पराओं, भारत के नवनिर्माण को लेकर शक्तिशाली राजनैतिक और अकादमिक संस्थानों की परवाह किए बग़ैर लिखने-बोलने लगे। दाम्पत्य जीवन में आने के बाद एक स्थायी पारिवारिक जीवन की ज़िम्मेदारियों को झेलते हुए राहुल के लिए परिस्थितियाँ कितनी दुरूह हो गई थीं और उनका मुक़ाबला करते हुए उन्हें कितनी तकलीफ़ें उठानी पड़ीं, इसके बारे में अलग से बातचीत हुई है। दुर्भाग्य से इस ओर सभी तरह की जानकारी होते हुए भी राहुल-साहित्य से जुड़े लोगों ने और ख़ुद उनके परिवार के लोगों ने चर्चा करना ज़रूरी नहीं समझा।[10]

राहुल जी के विचार धीरे-धीरे ऐसे हो गए थे कि तत्कालीन अकादमिक समूहों को उनकी बातों से बहुत असुविधा होने लगी थी। राहुल के साथ आज़ाद भारत में बौद्धिक परिवेश के साथ तादात्म्य बिठाना बहुत मुश्किल हुआ और उन्हें कठिनाई हुई लेकिन जो सबसे उद्वेलित करने वाली बात है, वह यह कि अन्त में वे बाध्य हुए श्रीलंका जाकर नौकरी करने को ताकि उन्हें 1500 रुपए माहवार मिल सकें जिससे उनके बच्चों की शिक्षा-दीक्षा ठीक से हो सके। श्रीलंका में रहते हुए उनके बारे में लिखते हुए भदंत आनन्द कौशल्यायन ने लिखा है : "राहुल जी के हस्ताक्षर सुपाठ्य नहीं रहे थे। दिनोदिन बिगड़ने वाली स्वाक्षरी उनके बढ़ते हुए स्नायु दौर्बल्य की सूचना दे रही थी। बहु-मूत्र का रोग। असन्तोषजनक भोजन। बच्चों और परिवार से दूर। किसी प्रकार का ख़ास मनोविनोद नहीं। रात-दिन लिखना-पढ़ना। वही काम और वही आराम!...उचित समझा गया कि राहुल जी जया-जेता के पास जाकर रहें क्योंकि उन दोनों बच्चों को बिना एक चिट्ठी लिखे हुए, रात को राहुल जी कभी सोते ही नहीं थे।...थोड़े से चंगे होकर राहुल जी एक बार फिर सिंहल आए। न वे पढ़ा सकते थे और न उन्हें किसी ने पढ़ाने के लिए कहा। उनके खाने-पीने की सुविधा-असुविधा का ख़याल करके उन्हें उनके एक परम मित्र श्री एम के कापड़िया के यहाँ ही रखा गया।"[11]

उनकी पत्नी का यह कथन बहुत कष्टदायी है—"औघरदानी तो वे थे ही, इसलिए भी धन के प्रति उनकी आसक्ति नहीं थी। मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह के लिए धन की भी आवश्यकता पड़ती है, इस सत्यता का बोध महापंडित को अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में ही हुआ।"[12] राहुल ने एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि जलवायु प्रतिकूल होने के बावजूद वे सिंहल में ही रहना चाहते हैं क्योंकि भारत में रहने से उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। "मैं अपने बच्चों के भविष्य को अन्धकार में कैसे छोड़ दूँ! मैंने ज़िन्दगी-भर कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। अब भी ऐसा करना मुझे पसन्द नहीं।"[13] पत्नी ने लिखा है—"जो जीव जीवन-भर नहीं रोया, अनेक विपत्तियों का भी जिसने हँसते-हँसते सामना किया, वही महापंडित अपने शेष जीवन के डेढ़ वर्ष प्रतिदिन रोते रहे, आँसू बहाते रहे।"

एक प्रश्न उठाया जाता है कि राहुल की इतिहास-दृष्टि में एक समस्या है कि वे शोध नहीं करते थे और उनकी अधिकांश बातें वे अपने हिसाब से इस्तेमाल करते थे।[14] वे आधुनिक शोधार्थी की तरह हर तथ्य की वैसी जाँच न कर पाते होंगे, पर उनको बहुत कुछ कह सकने की हड़बड़ी थी और वे जिस चीज़ से निर्देशित थे वह इतिहास का 'स्वीप ऑफ़ इमेजिनेशन'[15] थी। यह उनकी सीमा भी है और शक्ति भी। वे 'शुद्ध इतिहासकार' नहीं थे। राहुल अकादमिक विद्वानों की तरह अकादमिक जगत की पद्धतियों में ज़्यादा उलझे रहने के बजाय काम की बातें निकलते हुए सहज तरीक़े से निष्कर्ष निकाल लेते थे। वे सहज भाषा

में लिखते थे। सबको उनकी बातें समझ में आती थीं।

पूँजीवाद के आगमन की बड़ी रोचक व्याख्या राहुल ने की है। वे मानते थे कि यूरोपीय समाज में राजा और पुरोहित ही सब कुछ थे। सारी शक्ति उन्हीं के हाथों में होती थी। बनिए बेचारे शक्ति से वंचित थे। अपने समाज में वे भले ही शक्ति पाने में असफल थे लेकिन सात समुंदर पार उनके शक्तिशाली होने को यूरोपीय समाज के शक्तिशाली वर्ग नहीं रोक सके। इसी क्रम में बनिया क्लर्क ने शौर्य दिखलाते हुए 1757 में बंगाल में अपना विजय अभियान शुरू किया। तीन वर्ष बाद ही यूरोप में पूँजीवाद शुरू हुआ। ये लोग बाज़ार बनाने लगे, उसको नियंत्रित करने लगे और धीरे-धीरे इन लोगों ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया।

यूरोप में राष्ट्रीयता के विकास को वे फ्रांस में उठी राष्ट्रीयता की लहर के साथ जोड़कर देखते हैं। कैसे यह जर्मन जातियों में फैली—मगियार सैनिकों की पवित्र रोमन साम्राज्य की ज़रूरत और फिर लुई कोसुथ (1802-1894) द्वारा आस्ट्रिया के निरंकुश शासन के ख़िलाफ़ आन्दोलन के ज़रिए—इस पर राहुल ने ध्यान दिया। कालान्तर में हंगरी को आस्ट्रिया से जातीय अधिकार मिले, लेकिन तब उसने अपनी सहभागी जातियों—सर्बियन, क्रोशियन, रूमानियन को जातीय अधिकार नहीं दिए। मगियर द्वारा अन्य जातियों की भाषा और उनकी जातीय पहचान को न स्वीकार करने को राहुल ग़लत मानते हैं। इस मामले में वे सी डी हजेन की 1937 में प्रकाशित पुस्तक को उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि "हंगरी की इस नीति और हमारे यहाँ के कितने ही राष्ट्रीय नेताओं के विचारों में बहुत समानता है, और वह दूसरी अल्पमत जातियों को वही स्वायत्त अधिकार देने के लिए तैयार नहीं हैं, जिनके लिए वे पिछले पचास वर्षों से लड़ते आए हैं।"[16]

तुर्की में भी इसी तरह से जातीयताओं को दबाने की चेष्टा की गई, पर यह सम्भव नहीं हो सका। वहाँ सभी जातियों—ईसाई, यूनानियों, तथा आर्मेनियनों, और मुसलमान अरबों को अधिकारों से वंचित रखकर उन सबको तुर्क बनाने की कोशिश की गई। राहुल उल्लेख करते हैं कि अदन में 30 हज़ार आर्मेनियन ईसाइयों को मार डाला गया, ग़ैर मुस्लिमों के धार्मिक अधिकारों को छीनने की कोशिश हुई और अल्पमत जातियों को व्यापार के क्षेत्र में मिटाने की कोशिश की गई। मकदूनिया जैसी जगह में जहाँ मुसलमान कम थे वहाँ मुसलमानों को बहुमत में लाने के लिए दूसरी जगहों के मुसलमानों को लाकर बसाने की कोशिश की गई। इस आधार पर राहुल जी कहते हैं कि हिन्दू बहुमत से यदि भारतीय मुसलमानों को ख़तरा मालूम होता है तो...उसे हम बिलकुल निर्मूल नहीं कह सकते।"[17]

राहुल का प्रस्ताव है कि हर जाति को पूर्ण स्वतंत्रता हो और वहाँ के लोग ही चूँकि इस लड़ाई में शामिल होंगे किसी बाहरी या सामुदायिक आधार पर छद्म लड़ाई करना सम्भव न होगा। लोग अपने आर्थिक अधिकारों के लिए लड़ेंगे। कोई साम्प्रदायिक फूट डालकर 'इस्लाम ख़तरे में' 'हिन्दू ख़तरे में' का झूठा नारा लगाकर आर्थिक समस्याओं को ढकने की कोशिश नहीं कर पाएगा। भारत की हज़ारों समस्याओं की दवा के रूप में वे सुझाते हैं कि हमारी सरकार अपना पहला कर्तव्य समझे—सभी देशवासियों के खाने, कपड़े, मकान, दवा, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करना। यह तभी सम्भव हो सकता है जब केवल जनता की आवश्यकता और लाभ के लिए उद्योग धन्धे चलाए जाएँ।[18]

अखंड हिन्दुस्तान के लिए एक देश की तरह एक जाति की ज़रूरत पर वे बल देते हैं। वे कहते हैं कि जब हमारे राष्ट्रीय नेतागण अपनी-अपनी कायस्थ, राजपूत, ब्राह्मण जाति के बाहर शादी-ब्याह के मामले में जाने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे, अखंड भारत कैसे

बन सकता है? वे हिन्दू धर्मांधता का विरोध करते हैं। आंबेडकर की नीतियों के बारे में उनकी सहमति नहीं है। *वोल्गा से गंगा* के सुमेर को याद करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आंबेडकर नीति को वे बहुत सार्थक नहीं मान पाते हैं। इस कहानी को अनुवाद करते समय छोड़ दिए जाने का यही कारण है। हिन्दी-उर्दू के झगड़े पर उनका मत है कि जो नेतागण इस झगड़े को ख़त्म करने की कोशिश कर रहे हैं वे उस समस्या को भली-भाँति समझते नहीं हैं। राहुल के अनुसार ये लोग 'बिच्छू का मंत्र न जाने, साँप के बिल में अँगुली डाले' की नीति पर चलने वाले हैं। हिन्दी-उर्दू के झगड़े को वे दो संस्कृतियों की टक्कर के रूप में देखते हैं, जिसके कारण ही दोनों भाषाएँ दो अलग रास्तों पर गईं।

राहुल के अनुसार प्रगतिशील वही हो सकता है जो आज से बीस या पचास बरस पहले नहीं, दस और पाँच बरस पहले भी नहीं बल्कि आज इस वक़्त जो कुछ भी मानवता का भंडार बना है, बन रहा है, उससे पूरे तौर से आगाही रखता है।...प्रगतिशीलता का रास्ता... गतिशील है। जहाँ चलनेवाला, उसका रास्ता और सारी परिस्थिति क्षण-क्षण बदल रही है, वहाँ रहगीर का काम कितना कठिन हो जाता है इसे आसानी से समझा जा सकता है। बदलते समय के साथ वे यथेष्ट रूप से लचीले भी होते थे। 1943 में यात्रा के दौरान राहुल को यह लगा कि "सेठों के सामने अब राजा झूठे हैं। उनके ख़र्च बहुत बढ़ गए हैं, लेकिन आमदनी उतनी की उतनी ही है, और सेठों के लिए आमदनी की कोई सीमा नहीं।[19] राहुल ने अपने चालीस के दशक के लेखन में नए भारत के अपने स्वप्न को जिस रूप में रखा है उसकी चर्चा कम हुई है। इतनी कम चर्चा के बाद भी जब विद्वान भी उनके बारे में वक्तव्य दे देते हैं तो एक भ्रम बन जाता है। वे यथेष्ट उदारता का परिचय भी देते थे। एक बार जब उनसे किसी ने पूछा कि आपने हिन्दी के लिए कम्युनिज़्म को भी छोड़ दिया तो राहुल ने संशोधन किया कि "कम्युनिज़्म को हमने नहीं छोड़ा था, पार्टी से सम्बन्ध तोड़ा था।"[20] वे भावी कम्युनिस्ट क्रान्ति के प्रति आशावान थे। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के अनुसार "भावी कम्युनिस्ट क्रान्ति में...उनका अखंड विश्वास था। वे कहा करते थे कि "लाल भवानी की पूजा से ही देश के दु:ख दूर होंगे।"[21]

राहुल, अपभ्रंश और भारतीय साहित्य का आरम्भिक इतिहास (हिन्दी दोहाकोश का सन्दर्भ)

राहुल जी ने सिद्ध करने की कोशिश की थी कि हिन्दी का प्रथम कवि सरहपाद (760 ई.) एक यथार्थवादी क्रान्तिकारी कवि था और हिन्दी और हिन्दुस्तान का भविष्य उज्ज्वल इसी परम्परा को आगे बढ़ाने से बन सकता है।[22] वे मानते थे कि मूलत: सिद्ध-सामन्त युग (760 ई. से 1300 ई.) की भाषा और आज की भाषा मूलत: एक है।[23] इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं कि अपभ्रंश सुनकर किसी को लग सकता है कि यह कोई अलग भाषा है लेकिन इसका एक नाम है—देशी भाषा।[24] *हिन्दी काव्य-धारा* के बारे में यह उल्लेख किया जा सकता है कि इस किताब के बारे में पाठकों की प्रतिक्रिया को लेकर वे विशेष रूप से इच्छुक थे जब वे विदेश में थे।[25] एक तरह से इस विषय पर वे एक अरसे से सोच रहे थे और इस ओर उनका ध्यान तीस के दशक के शुरुआती दौर से ही था। उन्होंने 1933 में बड़ौदा में इंडियन ओरियंटल कॉन्फ्रेंस में कहा था कि 'चौरासी' सिद्धों का काल हिन्दी साहित्य का आरम्भ काल है, जो कि तिब्बती ग्रंथों के आधार पर निश्चित है।...सिद्धों की कविता का प्रचार

ही पीछे कबीर, नानक, दादू आदि संतों के वचन-प्रचार के रूप में परिणत हो गया।...और परम्परा बढ़ चली।"[26] 1954 में इस थीसिस को उन्होंने अपनी ओर से प्रामाणिक तौर पर *दोहाकोश* से पेश किया। कमला सांकृत्यायन ने इससे जुड़े सन्दर्भ के बारे में अपने संस्मरण में लिखा है—"किसी ग्रंथ को लिखने के लिए वे पहले से ही योजनाएँ नहीं बनाते थे। मन में जो विचार आए, उन्हीं को तुरन्त लेखनीबद्ध करना शुरू कर देते थे। मुझे एक दिन अपने पुस्तकालय में प्राचीन तालपत्र के कुछ पन्ने मिले। मैंने वे पन्ने पंडित जी को दिखलाए तो यह मालूम हुआ कि ये 8वीं सदी के सिद्ध कवि सरहपाद के दोहे के पृष्ठ हैं जिन्हें पंडित जी तिब्बत से लाकर भूल चुके थे। यह 1954-55 की बात है...तीन महीने के कठिन परिश्रम से 'दोहाकोश' नामक विशाल ग्रंथ तैयार करने के बाद ही आराम किया। इस 'दोहाकोश' पर वे किसी पुरस्कार को पाने की आशा भी रखते थे, परन्तु लोगों का ध्यान इस ओर नहीं गया।"[27] प्रतीत होता है कि राहुल के लिए यह एक तय बात थी कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अपभ्रंश के इतिहास के साथ ही शुरू हो गया था।

'दोहाकोश' की भूमिका में शिवपूजन सहाय ने लिखा है—"साहित्यिक गवेषणा के क्षेत्र में उनके अनुसन्धानों ने जो प्रकाश फैलाया है उससे युगों का घनीभूत अन्धकार तिरोहित हुआ है।...श्री राहुल जी की तरह 'मिशनरी स्पिरिट' से काम करने वाले यदि और भी दो-चार व्यक्ति हिन्दी में होते, तो साहित्यिक शोध के क्षेत्र में आज अनेक विस्मयजनक कार्य हुए रहते।...राहुल जी को सच्चे अनुयायी रूप से अभी तक निष्ठावान सहायक नहीं मिले हैं।"[28]

रामचन्द्र शुक्ल ने सिद्ध और योगियों की रचनाओं को 'साहित्य' न मानते हुए लिखा है कि यह साम्प्रदायिक (किसी सम्प्रदाय के लिए) शिक्षा मात्र है। वे कहते हैं कि "चौरासी सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे।...जो शास्त्रज्ञान सम्पन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था।" इस दृष्टि की आलोचना करते हुए नामवर सिंह ने लक्षित किया है कि यहाँ साहित्य की कसौटी का आधार सामाजिक और सांस्कृतिक है। जो 'सुसंस्कृत' है, उसकी गाली भी साहित्यिक है, लेकिन जो 'असंस्कृत' है उनकी डाँट-फटकार भी असाहित्यिक है।[29]

इस विषय के विस्तार में जाने का अवसर यहाँ नहीं है, लेकिन राहुल क्या कहना चाहते थे उसके बारे में सामान्य पाठकों को ज़रूर जानना चाहिए। राहुल ने 'दोहाकोश' को सम्पादित 1954 में किया और वे इस किताब के बारे में पाठकों की प्रतिक्रिया के बारे में विशेष रूप से इच्छुक थे जब वे विदेश में थे।[30] इस पुस्तक में राहुल की मुख्य स्थापनाओं को देखना चाहिए। भाषा की दृष्टि से छांदस (वैदिक भाषा) के बाद ईसा पूर्व पाँचवीं-छठी सदी में भाषा ने नया रूप लिया जिसे उन्होंने जनपदीय पालियाँ कहा। ईस्वी सन् के आरम्भ के आसपास प्राकृत अस्तित्व में आई जो ईसा की पाँचवीं सदी तक प्रचलित रही। इसके बाद भाषाविज्ञान की दृष्टि से एक गुणात्मक परिवर्तन हुआ। छांदस, पाली और प्राकृत में एक विशेषता बनी रही जिसे भाषाविद् 'श्लिष्ट' ('सिंथेटिक') रूप कहते हैं। किन्तु प्राकृत के बाद जो भाषा आई उसमें श्लिष्ट की जगह अश्लिष्ट रूप आया जिसका उल्लेख हर्ष के समकालीन वाण के *हर्ष चरित* में वाण के कवि मित्र ईशान के उल्लेख के रूप में मिलता है, जिसे भाषा कहकर पुकारा गया। यह जो भाषा है यह अपभ्रंश है (हालाँकि यह नाम बाद में मिला)जो संस्कृत—पाली-प्राकृत के श्लिष्ट-भाषा-कुल से उत्पन्न, पर अश्लिष्ट होने से एक नए प्रकार की भाषा है। यह नई भाषा तीनों भाषाओं से दूर तथा हमारी आधुनिक भारतीय

भाषाओं की माता-मातामही है और उसी प्रकृति की भाषा है। इसमें दोहा, चौपाई, पद्धरी के नए छंद उसी समय आते हैं। मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं—राजस्थानी, मालवी, बुन्देली, हरियाणवी, कौरवी (मूल हिन्दी), पहाड़ी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, असमिया, बंगला, उड़िया सभी भाषाओं के क्षेत्र में अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई है, उसको अपना समझा गया। इसी के आधार पर राहुल ने माना कि यह कहना ठीक नहीं है कि आधुनिक भारतीय भाषाएँ सीधे संस्कृत से निकली हैं। राहुल की स्थापना है कि छठी शताब्दी में यह नई भाषा बनी। वे मानते हैं कि ईशान से लेकर सरहपाद के बीच और भी अपभ्रंश के कवि रहे होंगे पर उनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। सरहपाद राज्ञी अंचल (जो राहुल के हिसाब से भागलपुर और पौंद्र-वरद्धन—उत्तरी बंगाल) में जन्मे थे। उनकी मृत्यु के बारे में राहुल ने ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर कहा है कि उनकी मृत्यु 780 के क़रीब हो चुकी थी। शबरपा उनके प्रधान शिष्य हुए। उनके अन्य शिष्यों में जोगी, नागार्जुन और सर्वभक्ष भी थे। उनके अनुयायी आज भी तिब्बत में भारी संख्या में मौजूद हैं।

अगर हम राहुल की साहित्य के इतिहास को देखने की दृष्टि पर ग़ौर करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोक की शास्त्रों द्वारा उपेक्षा का विरोध करते हैं और इस ज्ञान-परम्परा की राजनीति और वर्चस्व के लिए चल रही लड़ाई के प्रति बहुत सचेत हैं। इस क्रम में वे तमाम उन प्रसंगों, व्यक्तित्वों के बारे में कभी तथ्यों और कभी अपने अनुमान के आधार पर वैकल्पिक दृष्टि के लिए सामग्री जुटाते हैं। दुर्भाग्य से उनको संस्थानिक सहयोग बहुत कम मिल सके। वे चाहते थे कि उन्होंने जो सामग्री जुटाई थी उस पर काम हो और उसका संरक्षण और अनुवाद हो सके। कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों ने कुछ कोशिशें कीं लेकिन वे पर्याप्त सिद्ध न हो सकीं।[31] राहुल सांकृत्यायन के अनुसन्धानों का किस तरह से प्रभाव रहा है इसको समझने के लिए शिवपूजन सहाय द्वारा हिन्दी साहित्य और बिहार के प्रथम खंड को पलटना ही पर्याप्त है। जिन संतों के बारे में यशस्वी हिन्दी सम्पादक ने सूचनाएँ इकट्ठा की हैं उनमें से बहुतों के बारे में राहुल के अनुसन्धान के कारण ही जानकारी मिल सकी है। दुर्भाग्य से राहुल ने जो भारतीय साहित्य के बारे में दृष्टि तैयार की थी और जिसके आधार पर भारतीय साहित्य का इतिहास कई शताब्दी पीछे से शुरू होता उसको अकादमिक जगत में पर्याप्त गम्भीरता से नहीं लिया गया।

जाति (नेशन), भाषा और धर्म

राहुल के लिए किसी आदमी की जाति पहचानने के लिए सबसे बड़ा चिह्न—"पक्का चिह्न" है—उसकी भाषा।[32] इसके बाद वे जाति की पुष्टि के लिए जिस कारक का ज़िक्र करते हैं वह है—धर्म। संस्कृति को वह भाषा, कला और धर्म की सम्मिलित उपज मानते थे।[33] वे इसे ग़लत मानते हैं कि जातियों का ज़िक्र हो और धर्म को छोड़ दिया जाए। उन लोगों को जो धर्म को जातीयता में विशेष स्थान नहीं देना चाहते उनको राहुल ऐसे लोग मानते हैं जिनकी निगाह वर्तमान को नहीं देखती। वे स्पष्ट लिखते हैं—"जिस देश में अपनी भाषा, साहित्य, कला के बराबर या उससे भी अधिक जनता का दृढ़ आग्रह किसी धर्म के बारे में मिलता हो, और जब तक वह जनता उसके लिए बड़ी से बड़ी क़ुर्बानी करने के लिए तैयार हो; वहाँ हम धर्म से आँख नहीं मूँद सकते...जब तक मज़हब से प्रभावित होकर कोई जाति उसी के ऊपर अपने अलग व्यक्तित्व को क़ायम करने के लिए डटी हुई है, तब तक भूत में यह

मज़हब नहीं था, या भविष्य में नहीं रहेगा, इस बात को कहकर उस विचार को हटाया नहीं जा सकता और न हम वर्तमान की समस्या को हल कर सकते हैं।"[34] राहुल के कुछ कथन इतने स्पष्ट और ज़ोरदार हैं कि उससे तत्कालीन कम्युनिस्ट पार्टी को भी दिक़्क़त होने लगी थी। एक-दो वाक्यों का उल्लेख करना ही यथेष्ट होगा। ध्यान रहे कि यह कथन 1944 का है। "भाषा, धर्म और भौगोलिक स्थिति को जातीय समस्या पर विचार करते हुए हम छोड़ नहीं सकते। कुर्दिस्तान के कुर्द और ईरान के शिया दोनों ही एक फ़ारसी बोलते हैं, तब भी कुर्द अपनी अलग जातीयता के लिए बराबर संघर्ष करते आ रहे हैं। क्रोएशिया और सर्बिया की भाषा में उतना ही अन्तर है जितना कि छपरा और हाजीपुर की भाषा में, लेकिन धर्म के कारण इन दोनों का संघर्ष अभी तक चलता जा रहा है—क्रोएशियन रोमन कैथोलिक ईसाई हैं, और सर्बियन दूसरे स्लावों की तरह ग्रीक चर्च के ईसाई।"

भारत के सन्दर्भ में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "हमें यह मानने में कोई उज्र हो ही नहीं सकता कि हमारे देश के मुसलमान अपनी जातीयता में मज़हब को बहुत स्थान देते हैं।"[35] एक बार राहुल से पूछा गया कि अगर बौद्ध धर्म और कम्युनिज़्म में एक को चुनना पड़े तो किसे चुनेंगे तो उन्होंने कहा कि वे कम्युनिज़्म को चुनेंगे क्योंकि इसमें बौद्धों की सामाजिक समानता निहित है। प्रश्नकर्ता ने जब यह कहा कि यह समानता तो इस्लाम में भी है तो राहुल ने जो कहा वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा—"इस्लाम की समानता और बौद्धों की समानता में बहुत अन्तर है। इस्लाम में मज़हबी समानता है। हरेक मुसलमान धर्म-क्षेत्र में समान समझा जाता है, लेकिन बौद्ध धर्म में मानवमात्र समान है—यही क्यों जीवमात्र समान है। इस मौलिक भेद के कारण एक धर्म युक्तियों, अनुरोध, स्नेह, बन्धुत्व, त्याग, सहिष्णुता से फैला और दूसरा तलवारों की धार पर। वैसे अनेक मुसलमान संतों ने सहिष्णुता और मानव समानता का प्रचार भी किया। पर बहुत कम।"[36]

राहुल 15 अगस्त, 1947 को भारत लौटते हुए जहाज़ पर थे, उन्होंने देखा कि स्वाधीन होने की ख़ुशी में भारत और पाकिस्तान के लिए अलग-अलग झंडे फहराए गए और एक के लिए जन गण मन और दूसरे के लिए 'पाकिस्तान हमारा' गाया गया। इस पर राहुल की टिप्पणी है कि इक़बाल ने जिन्होंने पाकिस्तान का राष्ट्रीय गान लिखा उन्होंने लिखा था जिसमें ये पंक्तियाँ थीं—चीन और अरब हमारा, सारा जहाँ हमारा...तलवार के साये में हम पाले हैं...। इसके गाने के बाद नारा दिया गया अल्लाह ओ अकबर! राहुल ने लिखा है कि ये जानते नहीं कि जिहाद का समय बीत चुका है और विज्ञान का युग आ गया है। ये समझते हैं कि इस्लामी छुरेबाजी के बल पर इन्होंने पाकिस्तान क़ायम किया है। उनको यह नहीं मालूम कि अंग्रेज़ों ने अशगुन पैदा करने के लिए पाकिस्तान को बनाया।[37] इसके अतिरिक्त भी बहुत सारे प्रसंग हैं जिसमें उन्होंने इस्लाम और मुसलमानों के बारे में अपनी भावना को प्रकट करने में संकोच नहीं किया। एक जगह उन्होंने लिखा है—"इस्लाम में मुझे यदि कोई चीज़ बुरी लगती है, तो वह है स्थानीय भाषा और संस्कृति के प्रति अवहेलना और विद्रोह का भाव, और जहाँ यह बात नहीं रहती वहाँ उसके ऐतिहासिक महत्त्व का मैं बहुत प्रशंसक हो जाता हूँ।"[38]

राहुल की कम से कम दो पुस्तकों में भाषा और इस्लाम के प्रश्न पर इस प्रकार के कथन मिलते हैं जो किसी कम्युनिस्ट के कम और किसी भारतीयता के पक्षधर के अधिक प्रतीत होते हैं। युधिष्ठिर नामक पात्र के माध्यम से राहुल की पुस्तक—*आज की राजनीति* में कहा गया है—"इतिहास बतलाता है कि धर्म के नाम पर इस्लामी मुल्कों को एक राष्ट्र के रूप में कभी परिणत नहीं किया जा सका...इस्लाम की स्वतंत्र जातियों को आधुनिक ज्ञान-

विज्ञान से लाभ उठाकर जितना आगे बढ़ने का अवसर था उसकी धर्मान्धता ने उन्हें वैसा नहीं करने दिया।...कितने हिन्दू अब भी पाकिस्तान को बड़े भय की दृष्टि से देखते हैं, इनको मालूम होता है कि मुसलमान बहुत लड़ाके हैं, और उनकी पीठ पर मिस्र और तुर्की तक के सारे इस्लामी राज्य हैं।" युधिष्ठिर को राहुल के विचार का प्रतिनिधित्व करने वाला एक तरह से माना जा सकता है। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि युधिष्ठिर को राहुल ने बहुत ही सन्तुलित व्यक्ति के रूप में देखा है। इस पात्र का परिचय राहुल ने इस रूप में दिया है—"शिक्षा में वे किसी से पीछे नहीं हैं। साथ ही देशाटन ने उनके दृष्टिकोण को और भी विशाल बना दिया है। सिर्फ़ आयु के कारण ही दूसरे पंचों ने उन्हें अपना प्रधान या सरपंच नहीं बनाया, बल्कि उनमें सरपंच होने के गुण भी हैं। वे सबसे अधिक शान्त हैं।" महीप जो इस उपन्यास का ऐसा पात्र है जिसमें राहुल के विचार को सबसे अधिक स्पष्टता से लक्षित किया जा सकता है, उसके व्यक्त विचारों में भी राहुल के इस्लाम के इतिहास के प्रति राहुल के दृष्टिकोण की झलक मिलती है। महीप कहता है—"इस्लामी जातियाँ अपनी कट्टरता पर गर्व करती हैं, लेकिन उसके कारण उन्हें कूप-मंडूकता और पिछड़ेपन के सिवा कुछ हाथ नहीं आया।" युधिष्ठिर से जब पूछा जाता है कि फिर इस्लाम ने सफलता कैसे प्राप्त की तो उसका उत्तर है—"इस्लाम की सफलता किसी उच्च दार्शनिक विचार, महान सदाचार या भव्य आदर्शवाद के कारण नहीं हुई है। आप क़ुरान को उठाकर किसी धर्म के प्रमुख ग्रंथ से मिला के देख लीजिए, वह हर तरह से बहुत निम्न कोटि का जँचेगा।...(इस्लाम की) दूसरी सफलता की कुंजी थी : जैसे भी हो स्त्रियों को रखके उनसे औलाद को पैदा करके बढ़ाना। धर्म प्रचार के इस अनूठे ढंग को आप किसी धर्म के लिए शोभा की बात तो नहीं कह सकते।...एक साम्प्रदायिकता दूसरी साम्प्रदायिकता को पैदा करती है। मुसलमान इस्लाम को मानें, इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु यदि वह वेश-भूषा, भाषा, संस्कृति में अपने को विदेशी रखना चाहते हैं, तो समझ लें, यह उनके लिए आफ़त की चीज़ है।" कुछ इसी तरह के भाव राहुल की एक अन्य कृति *भागो नहीं दुनिया को बदलो* के सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र, जिसके कथन में लेखक के अपने भाव ही व्यक्त हुए हैं, भैया ने भी व्यक्त किए हैं—"मुसलमानों को वही बोली-बानी, वही पर-पोसाक, वही खान-पान अपनाना होगा, जो कि हिन्दुओं का है। बिलाइत में ईसाई रहते हैं, यहूदी भी रहते हैं, लेकिन उनको देख के कोई नहीं कह सकता, कि वह दो-तीन धर्म को मानते हैं।"[39]

साथ ही, यह उनके लिए स्पष्ट है कि "एक मज़हब होने पर भी यदि भाषा भिन्न-भिन्न हुई तो अलग जाति का सवाल उठे बिना नहीं रहेगा। वे 1944 में कहते हैं कि सारे पाकिस्तानी (इस्लाम के आधार पर एक हो जाएँ अगर) एक जाति के नहीं हो जाएँगे, भाषा का सवाल वहाँ तीव्र उठेगा। यह कम उल्लेखित है कि राहुल ने 1944 में कहा था कि "पूर्व बंगाल—जो कि पाकिस्तान का दूसरा टुकड़ा होगा भी अपनी समुन्नत मातृभाषा को छोड़कर उर्दू को अपनाएगा इसकी आशा नहीं रखनी चाहिए।"[40] इसी आधार पर वे कहते हैं कि "पाकिस्तान कभी एक जातीय देश नहीं रहेगा।" राहुल की यह धारणा है कि जातीयता के प्रश्न पर व्यावहारिक रूप से विचार करते वक़्त धर्म से भी ज़्यादा हमें भाषा को प्रधानता देनी होगी। पाकिस्तान के बारे में वे लिखते हैं कि—"पश्चिमी खंड में ही एक नहीं ग्यारह जातियाँ हैं जिनकी भाषाएँ हैं—सिन्धी, बलोची, बहुई, मुल्तानी, पश्चिमी पंजाबी, पश्तो, कश्मीरी, दरदी, बलती, हुञ्जा, और पूरब में पूरबी बंगाल की अपनी एक जीवित भाषा है। इस प्रकार पाकिस्तान ग्यारह जातियों का एक जाति संघ होगा।"[41]

भाषा के सम्बन्ध में राहुल जी की इस बात पर ग़ौर करना ज़रूरी है कि कुरु जनपद (मेरठ कमिश्नरी, अलीगढ़ ज़िला छोड़कर) की एक भाषा अब सारे उत्तरी भारत के अनेकों पुराने जनपदों की शिक्षा का माध्यम हो गई है, और उसे ही हम मातृभाषा का स्थान दिलाना चाहते हैं—अर्थात् ब्रज, बुन्देली, अवधी, बनारसी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, छत्तीसगढ़ी भाषाओं को मातृभाषा से ख़ारिज कराना चाहते हैं। प्राकृत युग में भी मगही, सौरसेनी, आदि भाषाओं की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई है और अब हम यदि उससे उलटा करना चाहते हैं, तो न यह उचित है और न यह सम्भव है। इन लोक भाषाओं की जड़ उससे कहीं दूर तक गई है, जितना कि हम समझते हैं।"[42] वे इतिहास के इस अनुभव की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं कि बुद्ध के पहले जनपद युग में हर एक जनपद (कुरु, पांचाल, कोसल, काशी, मगध) का व्यक्तित्व अपनी भाषा पर ही आधारित था और उनकी एक स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता भी थी। भाषा के अन्तर के कारण दो जनपद एक साथ आने और मिल जाने के लिए तैयार नहीं थे। कन्नौज के आधिपत्य के दौर में विभिन्न जातियों को एक साथ जोड़कर कन्नौजिया की जातीय भावना का प्रसार भी आख़िरकार सफल न हो सका। पूरे दौर में एक भाषा को लादने का प्रयत्न भी नहीं किया गया। एक 'अमातृभाषा' संस्कृत को भाषा ज़रूर स्वीकार किया गया।

राहुल के बारे में यह बहुप्रचारित है कि वे अंग्रेज़ी या उर्दू विरोधी थे। यह सही नहीं कहा जा सकता। वे कहते हैं कि मुस्लिमप्रधान प्रान्तों में उर्दू अन्तर्प्रान्तीय भाषा होगी और बाक़ी प्रान्तों में हिन्दी। (यह बात हिन्दी-उर्दू राज्यों के सन्दर्भ में कही गई है।) लाखों की तादाद में ऐंग्लो-इंडियन और दूसरे जो अंग्रेज़ी बोलते हैं उनके लिए वे कहते हैं कि "यद्यपि इनकी आबादी सारे भारत में बिखरी हुई है, तो भी हर जगह उनके बच्चों को पढ़ाने के लिए अंग्रेज़ी भाषा के स्कूलों का प्रबन्ध करना होगा।"[43] वे मातृभाषा की शक्ति को लेकर सचेत और आशावान हैं और इस बात से बिलकुल इत्तेफ़ाक़ नहीं रखते कि ग्रामीण बोलियों का महत्त्व सिर्फ़ उनके सुन्दर गीतों, कहानियों, मुहावरों और लोकोक्तियों के कारण है और उन्हें संगृहीत कर लिया जाना चाहिए क्योंकि ये धीरे-धीरे मर रही हैं। वे जोरदार शब्दों में कहते हैं कि "...धृष्टता मत कीजिए। यदि ये भाषाएँ...अब तक नहीं मरीं तो नज़दीक भविष्य में वे... शेष (ख़त्म) नहीं होने जा रहीं। उनके तुलसियों, सूरों और विद्यापतियों की क़दर अब तक आपने न की या उन्हें भुला दिया तो भी उनकी उर्वरता गई नहीं; ज्यों की त्यों है। भविष्य उनका है।"[44] वे कहते हैं—"जनता की भाषाएँ जब घर की मालकिन बनेंगी, अपने घर को सँभालने का सामर्थ्य जनता में तभी आ सकता है।"[45]

भाषा एवं इसके आधार पर गठित राज्यों—जनपदों पर राहुल स्पष्ट रूप से सुझाव देते हैं। उनके अनुसार हिन्दी-उर्दू प्रान्त (पंजाब, सिंध, युक्त-प्रान्त, बिहार तथा रियासतों) को तीस जनपदों में बाँटा जा सकता है। जो बात ध्यान देने योग्य है वह है राहुल की लोकतांत्रिक सोच। वे जाति की प्राथमिक पहचान के रूप में भाषा को रखते हैं और सभी जनभाषाओं के साथ एक जनपद की बात रखते हैं। वे हिन्दी को इन तीस जनपदों के बीच संवाद की भाषा के रूप में देखते हैं। हिन्दी को वे अनिवार्य द्वितीय भाषा (जो हफ़्ते में दो-तीन घंटे पढ़ने हों) के रूप में रखने की वकालत करते हैं। राहुल ने भाषा को कैसा होना चाहिए विषय पर अपना जो अभिमत रखा है उस पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा सकता है। वे एल्बर्ट श्वाइट्ज़र के हवाले से फ़्रेंच और जर्मन भाषा के अन्तर को उपवन और वन के अन्तर की तरह देखते हैं। जर्मन लोकभाषा से जुड़ी है और इसमें जंगल की भाँति विचरने का विकल्प खुला है जो फ़्रेंच

के सुगढ़ और सुनिश्चित रास्ते से अलग है। भाषा के प्रवहमान रूप की ही राहुल वकालत करते हैं। वे हिन्दी को जनभाषाओं की 'महाउर्वर' भूमि की ओर मुड़ने की सलाह देते हैं। इसी से संस्कृत या अरबी-फ़ारसी से उधार लेकर चलने की प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है।

राहुल सांकृत्यायन को याद करते हुए भीष्म साहनी ने एक मार्मिक वाक्य लिखा है : राहुल जी की जिज्ञासा उन्हें बहुत दूर तक ले जा चुकी थी...तभी मैंने जाना कि ज्ञान की भूख भी मनुष्य में उन्माद की सी स्थिति पैदा कर सकती है।[46] इस उन्माद की सी स्थिति ने राहुल को भारतीय बौद्धिक परम्पराओं को बचाने और उनको आज के लोगों के लिए उपलब्ध कराने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रखा। इस भूख ने एक जीवन में उन्हें इतना कुछ करने में सक्षम बनाया जो अन्य किसी के लिए असम्भव बात लगती है। राहुल के विचार और लेखन का पाट बहुत फैला हुआ है। उनके लेखन पर विमर्श की सम्भावना पहले से ज़्यादा मुखर हुई है। उनकी ज्ञान-सरणी में निहित सूत्रों को समझने और उससे सीखने की ज़रूरत है।

सन्दर्भ

1. राहुल सांकृत्यायन (1967), भाग 3, 28.
2. विष्णु चन्द्र शर्मा (1997), 426.
3. यह एक विवाद का विषय है कि राहुल ने पार्टी छोड़ी या उन्हें पार्टी से निकाल दिया गया। ख़ुद राहुल ने अपने को आजन्म कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य माना। अपनी आत्मकथा में उन्होंने माना कि वे 1917 की रूसी क्रान्ति के होने के एक-दो महीने बाद से ही इसके प्रति आकर्षित हो गए थे। "साम्यवाद मेरा अपना वाद हो गया। संयोग नहीं मिला, इसलिए पार्टी के भीतर आने में मुझे बीस बरस लगे," राहुल सांकृत्यायन (1967), 54-56।
4. राहुल सांकृत्यायन (1997), 4-5.
5. वही
6. भगवतशरण उपाध्याय (2017), 83.
7. *गंगा पुरातत्त्वांक,* जनवरी 1933, इसे उन्होंने रामगोविंद त्रिवेदी के साथ मिलकर सम्पादित किया था।
8. कमला सांकृत्यायन (1997), 99-113.
9. राहुल सांकृत्यायन (1949).
10. हितेन्द्र पटेल (2017).
11. भदंत आनन्द कौशल्यायन, 'श्रीलंका में राहुल जी', 167.
12. कमला सांकृत्यायन (1997), 14.
13. वही, 19.
14. यशस्वी आलोचक रामविलास शर्मा से लेकर उनके मित्र और सहयोगी रहे महादेव साहा ने इसी तरह की बातें कई प्रसंगों में की हैं। लेकिन इतिहासकार रामशरण शर्मा ने राहुल सांकृत्यायन के बारे में बहुत सकारात्मक तरीक़े से सोचा है।
15. राहुल सांकृत्यायन पर बोलते हुए नामवर सिंह ने राहुल की जन्मशती पर आयोजित गोष्ठी में 1993 में यह कहा था।
16. पाकिस्तान या जतियों की समस्या?, 11.
17. वही, 12-13.
18. वही, 15.
19. राहुल सांकृत्यायन (1950), 640.
20. डॉ. जयनाथ 'नलिन' का लेख 'राहुल जी का सहज व्यक्तित्व', डॉ. ब्रह्मानन्द (1971), 20.

21. वही, 42.
22. डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, 'बोधिसत्व राहुल सांकृत्यायन', डॉ. ब्रह्मानन्द (1971), 30.
23. डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया, 'भाषा अध्ययन के क्षेत्र में राहुल जी की देन' डॉ. ब्रह्मानन्द (1971), 105
24. राहुल सांकृत्यायन (1945), *हिन्दी काव्यधारा,* किताब महल, इलाहाबाद : 5 वे इस देशी भाषा को हिन्दी की ही आदि भाषा के रूप में स्वीकार नहीं करते बल्कि यह भी कहते हैं कि इस देशी भाषा पर मराठी, उड़िया, बंगला, असमी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषा का भी उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी का है।
25. अपने मित्र आनन्द कौशल्यायन को 28 अक्टूबर, 1946 को लेनिनग्राद से लिखे पत्र में जिन दो पुस्तकों के बारे में प्रतिक्रिया जानने में उनकी विशेष रुचि है वे हैं—*काव्य-धारा* और *भागो नहीं दुनिया को बदलो* (देखें—गुणाकर मुले, 'राहुल के पत्र आनन्द के नाम', 164।
26. डॉ. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और राहुल सांकृत्यायन', डॉ. ब्रह्मानन्द (1971), 84.
27. कमला सांकृत्यायन (1997), 12-13.
28. शिवपूजन सहाय (1957), 1-2.
29. नामवर सिंह (1982), 103.
30. ऊपर टिप्पणी से 25 देखें।
31. कोलकाता विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका रत्ना बनर्जी ने इस सम्बन्ध में जानकारी दी।
32. राहुल सांकृत्यायन(1945), 1.
33. वही, 2.
34. वही, 3.
35. वही
36. यह उद्धरण डॉ. जयनाथ 'नलिन' के संस्मरण से लिया गया है। 'नलिन' जी ने राहुल जी से मसूरी में डेढ़ घंटा बातचीत की थी जिसमें यह प्रसंग आया था। डॉ. जयनाथ 'नलिन' का लेख 'राहुल जी का सहज व्यक्तित्व', डॉ. ब्रह्मानन्द (1971), 19-20।
37. *मेरी जीवन यात्रा,* भाग 3.
38. वही, 21.
39. राहुल सांकृत्यायन (2016), 242-43.
40. 'पाकिस्तान या जातियों की समस्याएँ', *आज की समस्याएँ,* 4.
41. वही, 21.
42. वही, 5.
43. वही, 29.
44. वही, 33.
45. वही, 34.
46. भीष्म साहनी (2017), यह प्रसंग 1935 के आसपास का है।

सहायक ग्रंथ

कमला सांकृत्यायन (1997), *मध्य एशिया का इतिहास : महामानव महापंडित,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

राहुल सांकृत्यायन(1945), *आज की समस्याएँ,* किताब महल, इलाहाबाद।

राहुल सांकृत्यायन(1945), *हिन्दी काव्य धारा,* किताब महल, इलाहाबाद।

राहुल सांकृत्यायन(1950), *मेरी जीवन यात्रा,* भाग दो, किताब महल, इलाहाबाद।

राहुल सांकृत्यायन (1949), *आज की राजनीति,* आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता।

राहुल सांकृत्यायन (1967), *मेरी जीवन यात्रा,* भाग चार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
राहुल सांकृत्यायन (2016), *भागो नहीं दुनिया को बदलो,* किताब महल, इलाहाबाद।
राहुल सांकृत्यायन (1997), *राहुल निबन्धावली,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
शिवपूजन सहाय (1957), 'वक्तव्य', *दोहाकोश,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।
डॉ. ब्रह्मानन्द (1971), सम्पादक, *राहुल सांकृत्यायन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व,* हरियाणा प्रकाशन, दिल्ली।
नामवर सिंह (1982), *दूसरी परम्परा की खोज,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
विष्णु चन्द्र शर्मा (1997), *समय साम्यवादी,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
नया ज्ञानोदय, सितम्बर 2017।
गंगा पुरातत्त्वांक, जनवरी 1933।

महामारी का मानस और रविदास की निरीश्वरता

श्रीप्रकाश शुक्ल

मेरे लिए यह बात महत्त्वपूर्ण है कि बरसों से 'नाम तेरो आरती भजन मुरारे' नामक पद को अपने पड़ोस के रविदास मन्दिर में भोर में पाँच बजे सुनकर जगता रहा हूँ।[1] रविदास पर लगभग पिछले पाँच-छह वर्षों से काम करता रहा हूँ जिसका मुकम्मल स्वरूप कुछ समय बाद आएगा लेकिन कोरोना की यह जो महामारी आई है, वह भयानक है। यह हमारे जीवन की पहली महामारी है और उम्मीद करता हूँ कि शायद यह आख़िरी महामारी हो। ऐसी स्थिति में रविदास पर अध्ययन करते समय जो सोचा था, उसकी दिशा अब बदल गई है और जब दिशा बदली तो कई नई चीज़ें हमारे सामने आना आरम्भ हुईं जिनको मैंने इस लेख में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनके पदों को मैंने दुबारा पढ़ा और यह देखने की कोशिश की कि उनके समय में महामारी की जो स्थिति थी, उसका स्वरूप क्या था और जो उनके पहले महामारियाँ आती रही हैं, उनका स्वरूप क्या रहा है? मार्च 2020 में जब भारत में कोविड महामारी के कारण भारत सरकार द्वारा लॉकडाउन घोषित हुआ तब कुछ कवि मित्रों ने अपने-अपने तरीक़े से महामारी को दर्ज करने की कोशिश की। कवियों ने निरीश्वरता और महामारी पर बात करनी आरम्भ की। इसका कारण सम्भवत: यह था कि वे अपने समय के संकट को समझना चाहते थे और स्वयं इस संकट से निकलने का कोई उपाय भी खोज रहे थे। ऐसे में जून 2020 में किसी समय मुझे कवि मदन कश्यप की एक कविता ने हिन्दी की पूरी काव्य-परम्परा को नए तरीक़े से देखने के लिए उत्साहित किया। उनकी कविता इस प्रकार है : *वह एक तुम्हारा स्पर्श ही था/कि जिससे ईश्वर के होने की अनुभूति होती थी/कोरोना ने मुझे निरीश्वर बना दिया।* इस कविता ने मेरे लिए एक वैचारिक स्फुलिंग का कार्य किया। मैंने सोचा कि क्यों न इस बात पर विचार किया जाए कि हिन्दी साहित्य और कविता ने महामारी और निरीश्वरता को कैसे देखा-समझा है? यह देखा जाए कि निरीश्वरता की जो अवधारणाएँ निर्गुण संत कवियों में रही हैं, उनका क्या स्रोत है? क्या जिस प्रकार हम सब सोच रहे हैं, वैसा ही महामारी के दबाव में मध्यकालीन संत कवियों ने भी इस निरीश्वरता को अपने समय के दबाव में देखा था और यदि इसके पीछे उनके समय का दबाव था तो उसका आधार क्या था?

मेरे लिए ऐसा सोचना अथवा इस दिशा में बढ़ना स्वाभाविक था। इसके दो कारण हैं : मेरी रहनवारी और अध्ययन। विगत कई वर्षों से मैं रविदास के बारे में लिख-पढ़ रहा था और उन पर अपनी किताब को अन्तिम रूप दे रहा था। और रविदास का यह परिसर मेरे पड़ोस में स्थित सीरगोवर्धन में स्थित है। उसके बगल में मेरा मकान है। इन सबसे अलग वहाँ की भीड़-भाड़ और अचानक वहाँ बल्ला, जालंधर के रविदासी लोगों का पहुँच जाना, बेगमपुरा ट्रेन की हलचल, सेवादारों की अनुशासित सीटियों की हलचल से मेरे परिसर का गुंजायमान होना, लाखों की भीड़ होना, मेला होना, गीत-गवनई और उस सबके बीच बातचीत मेरे जीवन का हिस्सा बन गया। इस बार कोरोना के कारण से वह मेला फीका ज़रूर है लेकिन भक्तों के उत्साह में कोई कमी नहीं है। देखा जाए तो यह 644वीं जयंती है जो बल्ला के लोग या उनके अनुयायी मानते हैं हालाँकि मैं उनकी इस जन्मतिथि से सहमत नहीं हूँ। मैं इससे भी सहमत नहीं हूँ कि रविदास कबीर से बड़े थे। मैं यह मानता हूँ कि रविदास कबीर के कनिष्ठ समकालीन थे, उनसे छोटे थे लेकिन समकालीन थे। उनके साथ सत्संग होता था और रविदास के जन्म को मैं 1435 के आसपास मानता हूँ जिसके अपने तर्क हैं। हालाँकि यह अवसर इन बातों में उलझने का नहीं है, जब पुस्तक आएगी तब उसमें सप्रमाण उसका विवेचन किया जाएगा है कि क्यों मैं रविदास का जन्म 1376 ई. की जगह 1435 ई. मानता हूँ।

वास्तव में महामारियों की पीड़ा से अधिक महामारियों का भय ख़तरनाक होता है। यह कोई नई बात नहीं है। वास्तव में प्रत्येक महामारी की एक संरचना होती है जो भय पैदा करती है। इससे दवाओं का बाज़ार बढ़ता है। मुनाफ़े और पूँजीवाद का प्रसार होता है। पहले की जो महामारियाँ थीं, और उस समय की जो सामन्ती स्थिति थी, वह भय उत्पन्न करके ईश्वरत्व की अवधारणा पर विश्वास करना सिखाती थी। यानी वह ईश्वर की अलौकिक सत्ता की तरफ़ ले जाती थी। इसके बहुत सारे तर्क व प्रमाण हैं। मैं यहाँ इस विषय पर बात करना चाहूँगा कि कैसे ईश्वरता भी भय के भीतर से विकसित की जाती रही है। यहाँ ईश्वरता के बहाने मैं किसी भी व्यक्तिगत आस्था पर विमर्श नहीं कर रहा हूँ। यहाँ ईश्वरता से अभिप्राय यह है कि जो प्राकृतिक है और जिसमें मनुष्य की भी अपनी भूमिका रही है, उसे हटा करके यह कहना कि यह महामारी पाप-पुण्य का फल है, धर्म-अधर्म का परिणाम है या फिर आस्थावान न होने का दंड है। कई बार इसे पूर्वजन्म के कर्मों का दुष्परिणाम माना जाता रहा है। इस तरह की बातें सत्ता-व्यवस्थाएँ शुरू से ही करती रही हैं जिससे समाज में भय का वातावरण विकसित हो और वे अपनी वैधता को पुष्ट कर सकें। इतिहास के विकास की प्रक्रिया में महामारी की उनकी संरचनाएँ बदलती रही हैं लेकिन सत्ता का बुनियादी स्वभाव आज तक नहीं बदल पाया है।

ठीक इस स्थिति में मैंने महामारी और साहित्य के रिश्तों को समझने की कोशिश की है और उस कोशिश में सबसे बड़ी बात यह हुई कि मैं यह समझ सका कि इतिहास में मानवीय सम्बन्ध कैसे विघटित हुए थे, मनुष्यता का क्षरण कैसे हो रहा था, इतिहासकारों और वैज्ञानिकों की बार-बार कोशिशों से भी महामारी की भीतरी मानवीय पीड़ा का पता कभी भी नहीं चल सका क्योंकि इनका मूल स्वभाव दस्तावेज़ी रहा है जिसके भीतर दर्द व दवा दोनों ही महज एक आँकड़ा है। जाहिर सी बात है, पीड़ा को समझने की ज़िम्मेदारी हमेशा से ही साहित्य ने ही ली है। इसी नाते मुझे लगा कि हिन्दी कविता को लेकर यह देखने की कोशिश की जाए कि जो महामारियाँ आईं, उनके दबाव में साहित्य और साहित्यकार ने, कवि और

उसकी कविता ने अपने को कैसे बदला। कितनी मौलिकता उनकी कविताओं में आती रही है और क्यों?

कई बार मैंने यह महसूस किया है कि जिन कृतियों को मैं वर्षों से पढ़ता और पढ़ाता आ रहा हूँ, उनमें जो महामारी आई, उन पर ध्यान गया ही नहीं और जब ध्यान गया तो इस सन्दर्भ और इस रूप में गया। कोरोना महामारी के भीतर भावगत महामारी के इतने रूप दिखाई दिए, घर के भीतर से लेकर समाज में कि चकित व विचलित होने के अलावा मेरे पास कोई विकल्प नहीं था। इस सन्दर्भ में मैंने नए तरीक़े से सोचने की केवल कोशिश की है और यह जानने की भी, कि क्यों बीसवीं सदी को महामारी की सदी कहा जाता है![2] बीसवीं सदी में जो भी महामारियाँ आईं, उन पर बहुत किताबें मौजूद हैं। बहुतों को मैंने इस बीच पढ़ा भी है।[3] लेकिन वे एक डाक्युमेंट प्रारूप में हैं और वहाँ साहित्य लगभग अनुपस्थित है। हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी होने के नाते मैंने महामारी को इस रूप में समझने की कोशिश की है और पाया है कि किस तरह से महामारी की खरोंचें तदयुगीन हिन्दी के लेखकों और कवियों पर पड़ती रही हैं। बग़ैर उन खरोंचों को समझे महामारी की त्रासदी को सहस्त्राब्दी के परिप्रेक्ष्य में ठीक से नहीं समझा जा सकता।

इस दिशा में रविदास को एक बार फिर से पढ़े जाने का प्रस्ताव किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में बड़ा आश्चर्य होता है कि बनारस में रविदास आज़ादी के बाद भी सर्वथा अनुपस्थित हैं लेकिन अस्सी के दशक में अचानक वे भारतीय राजनीति के केन्द्र में आ गए। बनारस के ज्ञान-क्षेत्र में तुलसी के लिए, कबीर के लिए बहुत जगह मिली लेकिन रविदास के लिए कोई जगह नहीं थी। मोतीचन्द्र के *काशी का इतिहास* में भी, जो एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है, रविदास का केवल नाम आता है जबकि तुलसीदास, कबीरदास पर विस्तार से लिखा गया है।[4] जो अन्य ग्रंथ उपलब्ध होते हैं उनमें भी रविदास ग़ायब हैं। यह तो भला हो बल्ला, जालंधर के रैदासियों का कि उन्होंने जब 1965 में सीर में रविदास मन्दिर की नींव रखी तब से अब तक बहुत सारे लोग मत्था टेकने यहाँ आ रहे हैं।[5] इधर पिछले पाँच वर्षों में तो देश के बहुत सारे शीर्षस्थ नेता यहाँ मत्था टेक चुके हैं। यहाँ मत्था टेकने में भी अन्तर है। सामान्य लोगों के मत्था टेकने और राजनीतिक लोगों के मत्था टेकने में अन्तर है। सामान्य लोग मत्था इसलिए टेकते हैं कि वह भक्तिकाल के एक महान संत थे जिनसे हम अन्त:प्रेरणा लेते हैं, मुक्ति की बात करते हैं। चेतना के परिष्कार की बात करते हैं लेकिन जब राजनीति मत्था टेकती है तो वहाँ वोट के अलावा और कोई आधार नहीं हो सकता। मैं यहाँ इस बात को दर्ज करना चाहता हूँ कि रविदास के क्रान्तिकारी, दलित आदि पक्षों पर बात होती रहनी चाहिए। राजनीति के कारण रविदास का कवि पक्ष उपेक्षित रह गया। एक अध्येता के नाते हमारा उद्देश्य यह है कि रविदास की कविता हमारे चिन्तन के केन्द्र में रहे। रविदास को मैं एक बड़ा कवि मानता हूँ, शेष चीज़ें जैसे उनका संत पक्ष, क्रान्तिकारिता, सामाजिक परिवर्तन, लोकजागरण और उनका देशज पक्ष, यह सब उनके कवि के ही विविध रूप हैं।

रविदास मध्यकाल की एक सांस्कृतिक उपस्थिति ही नहीं सामाजिक विरासत भी हैं। वे एक वैकल्पिक सृष्टि को रचने में समर्थ मनुष्य हैं। रविदास को जैसा समाज रुचिकर लगा, वैसा सृजित करने की कोशिश की और वैसे ही यूटोपिया का विचार प्रस्तुत किया जिसके माध्यम से हम बेगमपुरा तक पहुँचते हैं।[6] रविदास एक ऐसे कवि हैं जो अपने समय के श्रमशील व्यक्तियों की शिनाख़्त करते हैं और उन्हें स्वाभिमान से जीने का मार्ग सुझाते हैं। वे सत्संग पर बराबर ज़ोर देते रहे जिससे दस्तकार वर्ग को शिक्षित करके उनके भीतर मुक्ति

की इच्छा जागृत कर सकें। वे आध्यात्मिक नहीं लौकिक मुक्ति का आधार देते हैं और इसी कारण औपनिवेशिक आधुनिकता के दौर में वे हमारे बीच देशज आधुनिकता की अग्रगामी चेतना के कवि दिखाई देते हैं। इस सन्दर्भ में देखें तो रविदास पोथी-संस्कृति के नहीं मानुष संस्कृति के पोषक कवि हैं जो स्वभाव से साधु थे लेकिन संस्कार से स्वाभिमानी। वे प्रभु को स्मरण तो करते हैं लेकिन साथ ही एक शालीन प्रत्याख्यान भी दर्ज करते हैं। उनका प्रसिद्ध पद है : तोही मोही मोही तोही अन्तरू कैसा। कनक कटिक जल तरंग जैसा। इसके अन्त में कहते हैं : सरीरु आराधे मोकउ विचार देहु/ रविदास समदल समझाए कोउ।[7] यह सूत्र वाक्य है : वे प्रभु से ऐसे समर्थन की अपेक्षा करते हैं कि प्रभु उन्हें ऐसा विचार दें। वे प्रभु नाम की आराधना तो करते रहे, साथ ही समान दृष्टि वाले संतों की संगत भी बनी रहे। अर्थात् प्रभुभक्ति के साथ समानता की भावना हमेशा बनी रहनी चाहिए न कि किसी प्रकार के श्रेष्ठता बोध की। रविदास के यहाँ दो तत्त्व उन्हें केवल उनके समय का नहीं बल्कि एक सार्वकालिक कवि के रूप में स्थापित करते हैं। इसलिए प्रभु भक्ति के साथ-साथ वे समानता की भावना की बात लगातार करते हैं और इससे उन्होंने कभी भी समझौता नहीं किया। किसी तरह के श्रेष्ठता बोध को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। असल में सगुण के भीतर उनको जो श्रेष्ठता बोध दिखाई दे रहा था उसी के दबाव में वे निर्गुण की समानता की ओर अग्रसर होते हैं। रविदास की एक साखी है : जिह्वा सो ओमकार कर, हत्थन सो कर कार/ राम मिलहि घर आइ के, कह रविदास विचार।[8] अर्थात् जिह्वा से राम का नाम तो लो, लेकिन हाथों से काम करो। इसका सामाजिक आशय है कि भक्ति और श्रम एक साथ ही घटित होता है, इसके बग़ैर राम नहीं मिलेंगे। राम उनके यहाँ श्रेष्ठता के रूपक नहीं रचते, समानता के रूपक रचते हैं। जब भी राम श्रेष्ठता के रूपक के रूप में माने गए, तब-तब समाज विभाजित हुआ है। इसी नाते निर्गुण कवि की तरफ़ से कबीर की याद बार-बार आती रही है। अत: रविदास आज के दिन बहुत महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पुरुष हैं।

सगुण के बरक्स निर्गुण की प्रतिष्ठा का जो प्रयास है, वह केवल इस नाते मानीखेज है क्योंकि यहाँ निर्गुण में श्रेणीबद्धता नहीं श्रमबद्धता है। अत: रविदास श्रेणीबद्धता के नहीं श्रमबद्धता के कवि हैं और इन्हीं आधारों पर रविदास शासन की जगह समानता पर ज़ोर देते हैं क्योंकि जो सगुण स्वरूप होता है वह शासन को पुष्ट करता है और जो निर्गुण स्वरूप होता है वह समानता को पुष्ट करता है। सगुण राम शासन करते हैं और निर्गुण राम समानता को प्रोत्साहित करते हैं। इसी नाते जिह्वा से ओमकार वाली साखी बहुत प्रसिद्ध है क्योंकि निर्गुण राम के लिए किसी भी प्रकार की शासकीय आचार संहिता की ज़रूरत नहीं पड़ती। इससे यह भी स्पष्ट है कि रविदास की जो काव्य-यात्रा है वह सगुण से निर्गुण की काव्य-यात्रा रही है। उनके समकालीन सेन नाई ने इसे दर्ज भी किया है।[9] रविदास सगुण से निर्गुण तक की यात्रा के कवि रहे हैं और उनकी यह जो कविता यात्रा रही है, वह कबीर और रैदास के संवाद से ही सम्पन्न हो पाई है। इसी में कबीर से प्रभावित होकर सेन ने लिखा है : तब निर्गुन गह्यो रविदासा, छूटी करम धरम के पासा। ठीक ऐसी स्थिति में वे एक पद रचते हैं : राम तेरो आरती, भजन मुरारे। हरि के नाम बिनु झूठे सगल पसारे।[10]

रविदास मन्दिर में यह पद सुबह पाँच बजे से ही सुनाई पड़ने लगता है। सत्संग, समानता, श्रम और नाम-सत्ता : यह चार रूप रविदास को एक बड़े कवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। यही उनके काव्यबोध की रचना करता है। आधुनिक काल की जो हिन्दी कविता इन मूल्यों को लेकर आगे बढ़ती है, वह इसके लिए सीधे तौर पर रविदास की ऋणी है। यहाँ

यह भी समझना महत्त्वपूर्ण है कि मध्यकाल में किसान वर्ग जहाँ मुख्य तौर पर सगुण ईश्वर को स्वीकार करता है वहीं शिल्पी और दस्तकार वर्ग निर्गुण सत्ता की ओर उन्मुख रहा। इस वर्ग की निर्गुण चेतना इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है कि उसमें नाई, कुम्हार, धोबी और चर्मकार की भूमिका उल्लेखनीय रही है। रविदास के समय में बीमारी और महामारी का जो दबाव था, उसी का असर था कि वे धीरे-धीरे निरीश्वरता की ओर बढ़ते चले गए। ईश्वरता से निरीश्वरता की यह यात्रा उनके समय की महामारी के दबाव की फलश्रुति रही है। इसलिए रविदास की कविताओं को उनके समय के सर्वप्रभावी प्रभाव वाली कविता माना जाना चाहिए।

इसी आधार पर अपनी कविता के आन्तरिक दबाव के बीच, जो अन्ततः एक सामाजिक यूटोपिया में रूपान्तरित होती है, वे बेगमपुरा तक की यात्रा करते हैं। यह जो बेगमपुरा की यात्रा है, वह यूटोपिया होने के बावजूद महत्त्वपूर्ण है। भविष्य में समाज कैसा हो, इसकी एक रूपरेखा देने की उन्होंने कोशिश की। रविदास की चेतना में जो एक वैकल्पिक विश्वबोध है, उसको समझे बग़ैर उनकी रचना को नहीं समझा जा सकता। इसी कारण रविदास अपने समय की महामारी के दबाव में विकसित वैकल्पिक विश्वबोध के एक विलक्षण कवि रहे हैं जिन पर अपने समय की महामारी और आपदा का निश्चित ही बड़ा प्रभाव रहा है। असल में रविदास के यहाँ आपदा और महामारी के बारे में जब विचार किया जाता है, यह सोचे बिना कोई नहीं रह सकता है कि उनकी जो रचनाएँ हैं उनमें जीवन को बचाने की ही बात वे नहीं करते बल्कि उस जीवन को नए सन्दर्भों में रचने की भी बात करते हैं। यह एक कवि की ज़िम्मेदारी होती है क्योंकि वह अपने समय का द्रष्टा ही नहीं होता बल्कि उसे नए सन्दर्भ भी देने की कोशिश करता है।

आज 2020 में हम जिसे 'कोरोजीविता' कहते हैं उसका आशय भी इसी कवि जीवट से है जिसमें कवि अपने परिवेश को समय के दबाव के बीच नए सिरे से रचता है और आपदा व महामारी से बाहर आने के लिए संघर्ष करता है। ऐसे में उपस्थित व उपलब्ध ईश्वर के प्रति जहाँ एक गहरी वितृष्णा होती है वहीं एक अमूर्त अलौकिक सत्ता के प्रति विश्वास भी पैदा हो जाता है। इसका दूसरा पक्ष भी हो सकता है कि जनता गहरे अर्थों में ईश्वरवादी हो जाती है लेकिन यह होना कोई घटना नहीं होती क्योंकि जनता तो पहले से ही ईश्वरवादी समाज में ईश्वरवादी रहती है। आपदा के समय उसका निरीश्वर होना ही असल में एक नई घटना होती है और रविदास इसी संवेदना के प्रतीक कवि हैं जहाँ ईश्वरता के भीतर से ब्रह्म की वह 'नाम सत्ता' विकसित होती है जो असल में मनुष्य की सर्वाधिक निकट सत्ता होती है। यह 'नाम सत्ता' अन्ततः 'शब्द सत्ता' में रूपान्तरित हो जाती है जो कविता ही है। रविदास इसी कवि समाज की प्रतिनिधि आवाज़ हैं जिनका असर आगे के समय में लिखने वाले कवियों तक पर देखा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि 1470 के आसपास कालरा चेचक के फैलने का सन्दर्भ बनारस में मिलता है। इसे उस समय में स्वामी बल्लभाचार्य के जन्म की इस घटना से भी समझा जा सकता है।[11] असल में बल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट और पितामह बाल भट्ट आन्ध्र प्रदेश के कंकन पाड़ा के निवासी थे। इसमें लक्ष्मण भट्ट बचपन से ही ईश्वर भक्त थे और गुरु आज्ञा से याल्लामा व इल्लमा नामक दो कन्याओं से शादी कर चुके थे। एक दिन सोम यज्ञ की पूर्णाहुति के उपरान्त देववाणी के प्रभाव में एक अवतारी पुरुष के घर में जन्म लेने का संकेत पाकर काशी की ओर चल दिए और यहाँ 1475 में पहुँचकर हनुमान घाट पर रहने लगे। इसी समय काशी एक तरफ़ चेचक की आपदा में त्रस्त थी तो दूसरी तरफ़ जौनपुर के शर्की शासकों (1460-1480) द्वारा मन्दिरों को तोड़ने का क्रम जारी

था।[12] ऐसी स्थिति में पत्नी इल्लमा, जो आसन्न प्रसवा थीं, के साथ अपने मूल स्थान आन्ध्र की ओर चल पड़े और जब ये रायपुर के चंपारण से गुज़र रहे थे, जो मध्य प्रदेश में पड़ता है, तब इन्हें 1478 में पुत्र की प्राप्ति हुई। शमी वृक्ष की छाया में पुत्र का जन्म हुआ। अब आगे जाना सम्भव न देखकर ये वापस काशी की ओर लौट लिये और यहाँ आकर हनुमान घाट पर भक्त सेठ कृष्णदास के निवास पर रहने लगे। यहीं बल्लभाचार्य का पोषण हुआ।

इसके थोड़े ही पहले 1350 के आसपास यूरोप में ब्लैक डेथ की महामारी फैल चुकी थी जो प्लेग ही थी जिसे सौरव राय ने विस्तार से बताया है।[13] चौदहवीं सदी के यात्री इब्न बतूता ने बीदर में मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में (1324-1351) ब्यूबनिक प्लेग की महामारी का ज़िक्र किया है जिसका सन्दर्भ इनयातुल्लाह ख़ान ने भी दर्ज किया है।[14] यहाँ ध्यान दें कि यह महामारी ब्यूबनिक प्लेग 1616-24 के बीच व्यापक स्तर पर आगरा और देश के अन्य क्षेत्रों के साथ बनारस में भी फैली थी जिसमें तुलसीदास का 1623 में निधन हो गया था। इस बीमारी का सन्दर्भ तुजुक जहाँगीरी में भी मिलता है।[15] इसके थोड़े ही बाद 1520 में चेचक की बीमारी से मैक्सिको के लोगों के संक्रमित होने का विवरण मिलता है जो पुर्तगाली विजेताओं द्वारा अमेरिकी महाद्वीप में पहुँची थी। कई इतिहासकारों के अनुसार सामन्तवाद से पूँजीवाद की तरफ़ संक्रमण में 'ब्लैक डेथ' की एक बड़ी भूमिका थी। 'ब्लैक डेथ' के चलते यूरोप की तक़रीबन आधी जनसंख्या का सफाया हो गया था, जिससे वहाँ पर खेतों में काम करने वाले 'सर्फ' अथवा बँधुआ मज़दूरों की अत्यधिक कमी हो गई। ऐसे में यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था का बने रहना लगभग असम्भव हो गया। एक महामारी की पृष्ठभूमि में जन्मी इस पूँजीवादी व्यवस्था ने कालान्तर में उपनिवेशवाद को भी जन्म दिया। जैसा कि लेनिन का मानना था उपनिवेशवाद पूँजीवाद का ही चरम स्वरूप था। पूँजीवादजनित उपनिवेशवाद ने जहाँ एक तरफ़ विश्व के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक ताने-बाने पर गहरी छाप छोड़ी, वहीं दूसरी तरफ़ इसने महामारियों के पूरे स्वरूप को भी बदलकर रख दिया।[16]

पुर्तगाल में यह बीमारी पुर्तगाली व्यापारियों के माध्यम से भारत से ही पहुँची क्योंकि पन्द्रहवीं सदी के मध्य से यहाँ चेचक का प्रकोप मिलने लगता है और यही रविदास का समय भी है। यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि 1498 में पुर्तगाली वास्को दि गामा भारत आया जहाँ कालीकट के राजा जमोरिन से व्यापार का अधिकार प्राप्त कर लिया था। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बाबर ने *बाबरनामा* में 1526-1530 में मलेरिया के भारत में फैलने का ज़िक्र किया है।[17] इन तथ्यों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यही है कि हम जान सकें कि रविदास के समय महामारियों के प्रसार का एक वैश्विक परिप्रेक्ष्य था, भारत का भविष्य उससे अलग नहीं था और उसके कवि भी इससे गहन रूप से जुड़े हुए थे। रविदास के समय में चेचक और मलेरिया की बीमारियों की आवाजाही हो रही थी जिसका असर उनके संवेदनशील मन पर पड़ रहा था। सबसे अधिक नुकसान ग़रीब और पीड़ित जनता को ही हो रहा था। कुछ पूर्व जन्म के पाप के नाम पर तो कुछ ईश्वरीय विधान के नाम पर उन्हें इसका दोषी बताया जा रहा था। उन्हें इलाज के नाम पर मृत्यु का एहसास कराया जाता था जिसमें सगुण ईश्वर के चमत्कार के प्रति सम्पूर्ण समर्पण था। उनके यहाँ ईश्वर बाद के अंग्रेज़ों की तरह एक प्रकार से उपनिवेशक ही था जो अवतार व उपासना के नाम पर ग़रीब और दलित जनता को मरने के लिए छोड़ देता था। चिकित्सा एक प्रकार से शोषण का आधार थी और सत्ता के वर्चस्व को बनाए रखने का माध्यम। पुरोहितवाद चरम पर था और उसी के भीतर ईश्वर की अलौकिक

महत्ता जिसमें वह सगुण रूप में सब कुछ कर सकता था। अगर नहीं कर रहा था तो केवल इसलिए कि भक्ति एवं समर्पण की भावना में ही कमी रह गई थी! यहाँ ईश्वर मोक्षदाता था और जनता का एक बड़ा हिस्सा अपने पूर्वजन्म के पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए बीमार हो रहा था जहाँ मृत्यु ही असल में मोक्ष थी! आधुनिक शब्दावली में कह सकते हैं कि यह एक प्रकार की 'पुरोहितवादी बायोपॉलिटिक्स' थी।

मध्यकालीन इतिहासकार जिसे सामन्तवाद से व्यापारिक पूँजीवाद की ओर संक्रमण कहते हैं, उसका एक छोटा असर हिन्दी के इस क्षेत्र में घटित होता दिखाई दे रहा था जहाँ शहर में उभरती नवीन जातियों में निर्गुण ईश्वर के प्रति आकर्षण दिखाई देता है जो निश्चय ही अवतारी विधान के ख़िलाफ़ था। यह आरम्भ यहाँ रोचक ढंग से संत कवियों के भीतर से घटित हो रहा था जिनका असर धीरे-धीरे पूरे समाज पर पड़ रहा था और यही रविदास जैसे संत कवियों की ताक़त का संकेत है जो शिल्पक वर्ग को आपदा से निपटने के लिए नाम-सत्ता के महत्त्व की शिक्षा दे रहे थे ताकि एक बड़ी जनसंख्या सगुण के तमाम सत्तागत अन्तर्विरोधों को ठीक से समझ सके। इसे किसान की सगुण भावना से शिल्पकारों की निर्गुण भावना की ओर होते संक्रमण के रूप में भी समझा जा सकता है जिसके बारे में मैंने अन्यत्र संकेत किया है।

ऐसे में रविदास एक अलग मार्ग प्रशस्त करते हैं और वे सगुण ईश्वर से निर्गुण की तरफ़ प्रस्थान करते हैं जिसका प्रमाण सेन नाई कृत कबीर-रैदास संगोष्ठी से मिलता है।[18] यहाँ स्पष्ट है कि सन् 1480 के बाद रविदास के विचारों में निर्गुण ईश्वर के प्रति तेज़ी से आकर्षण बढ़ता है और वे रूप की जगह नाम-सत्ता के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। यह वही समय है जब बनारस में चेचक और हैजा का प्रकोप फैला हुआ था। उस समय व्यापार में विकास था जिस कारण से ख़बरें भी छनकर बनारस आ ही रही थीं। बनारस जौनपुर के शर्की शासन के अधीन था जिस कारण से भी ख़बरों का आना कोई नई बात नहीं थी। शिल्पक जातियों का प्रभाव भी था जो नगरोन्मुख थे जिसने संत कवियों की निर्गुण सत्ता के विकास की दिशा में मदद की थी। रामानन्द का गुरु प्रभाव भी था जो नाम के महत्त्व को समझने की दिशा में रविदास की मदद कर रहा था।[19] बनारस में कबीर का बोलबाला था ही जो हिन्दू व मुसलमान दोनों की ईश्वरीय सत्ता को चुनौती दे रहे थे लेकिन इन सबके बीच, एक कवि के रूप में वे अपने समय की विभीषिका, आपदा व महामारी को भी बहुत क़रीब से महसूस कर रहे थे। वे चेचक और हैज़ा के प्रकोप से पीड़ित ग़रीब जनता की कातर पुकार को ठीक से सुन रहे थे जहाँ सगुण सत्ता के भरोसे सब कुछ छोड़ देना और मृत्यु का वरण करना एकमात्र इलाज था। चेचक की संक्रामकता से अलग पूजा में भरोसा भी एक कारक था जिससे यह कई जगह महामारी का रूप ले चुकी थी। एकान्तवास की जगह कर्मकांड था और चिकित्सा की जगह पूजा-पाठ। पूर्वऔपनिवेशिक काल में दलित परिवारों में टोना-टोटका और झाड़-फूँक का प्रभाव अधिक था जिसका ज़िक्र ब्रिग्स ने किया है।[20] ऐसा माना जाता था कि बबूल के पेड़ पर भूत रहते थे जिनकी सिद्धि आवश्यक थी और नीम के पेड़ पर देवी जिनकी शीतला माई के रूप में उपासना एकमात्र इलाज थी, ख़ुद रविदास के घर के सामने परम्परा से नीम के पेड़ का ज़िक्र मिलता है जिसे आज भी सीर में उनके जन्मस्थान के सामने सुरक्षित रखा गया है यद्यपि यह प्रतीकात्मक ही है।

इस सन्दर्भ में रविदास के कुछ पद बेहद महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी औपनिवेशिक बौद्धिकों द्वारा प्राय: उपेक्षा की जाती रही है। इनके माध्यम से हम रविदास के ऊपर उनके समय की

महामारी के प्रभाव को समझ सकते हैं। उनका वह एक पद बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसमें 'विसम विषाद विहंडनकारी' वाक्य आता है। इन्हीं सब स्थितियों के बीच रविदास के विचलित कवि मन ने निरीश्वरता की ओर प्रस्थान किया और बताया कि सगुण नहीं अनाम निर्गुण ही असली सत्य है। इस निष्कर्ष तक पहुँचने में उनके समय की इन आपदाओं ने ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके एक पद में आया 'अतिशय सूल' चेचक की विभीषिका की ओर संकेत करता है क्योंकि चेचक में दर्द भी होता है और पीड़ा भी। इस पद में दर्द को आसानी से देखा जा सकता है जहाँ वे त्रिभुवन राम को अतिशय दर्द से पीड़ित मनुष्य को मुक्ति दिलाने की बात करते हैं। विषम विषाद के समय लोग मन्दिर के देवता को पुकार रहे थे जबकि रविदास कहते हैं कि मन्दिर के राम नहीं, मन के राम ही सुनेंगे :

त्राहि त्राहि त्रिभुवन पति पवन अतिशय सूल सकल बलि जावन
काम क्रोध लम्पट मन मोरा कैसे भजन करूँ मैं तोरा
विषम विषाद विहंडनकारी असरन सरन सरनि भौ हारी
देव देव दरबार दुआरे राम राम रविदास पुकारे[21]

यहाँ जिस देव को उनके दरबार में खड़े होकर रविदास पुकार रहे हैं, वह देव निश्चय ही निर्गुण नाम रूप ब्रह्म है जो सभी देवताओं से परे है और इसीलिए सभी जीवों के लिए समान रूप से सुलभ है। राम की यह सर्वजनसुलभता ही रविदास को महान बनाती है। उनके राम किसी मन्दिर में नहीं मन में हैं और मन ही उनके यहाँ मन्दिर है। रे मन राम नाम संभारि।[22] मन ही पूजा मन ही धूप।[23] इसी प्रकार एक दूसरा पद देखें जिसमें वे दु:खों को दूर करने के लिए राम नाम के जप की बात करते हैं। दु:ख है लेकिन उसके समाधान के लिए कर्मकांड की नहीं सच्चे राम में लगन की ज़रूरत है और यह राम सर्वव्यापी, सर्वसुलभ हैं। इस पद में कहते हैं कि शरीर का यह क़िला कच्चा है जिस पर आपदा रूपी तस्कर की नज़र है। इससे मुक्ति तुम्हें ख़ुद पर विश्वास करने से आएगी न कि कर्मकांड से। इसका मतलब राम नाम के प्रति आस्था असल में अपनी सत्ता व रूप के प्रति आस्था ही है। निरीश्वरता का यही आधार भी है जहाँ आदमी का ख़ुद पर भरोसा जगता है। राम नाम का जाप असल में ख़ुदा से अधिक ख़ुद पर भरोसा व्यक्त करने का जाप है। इसी में वे कहते हैं कि आख़िर तुम क्यों आदमी हो, यह आँख खोलकर तुमने कभी देखा ही नहीं। सब समय आँखें बन्द ही किए रहे और भगवान् की मूर्ति की उपासना करते रहे। अब समय आँख खोलकर देखने का है क्योंकि वास्तविक आत्म-साक्षात्कार आँखों को बन्द करने से नहीं खोलने से मिलता है। आँखों का यह खोलना ख़ुद के प्रति जागरूक होना है और जगत के प्रति आलोचनात्मक रुख़ अख़्तियार करना है। बन्द आँखों से दुनिया के धन्धे का पता नहीं चलता। जो पाँव पसार कर सोता है, उसके पाँवों में दम नहीं आता। रविदास के अनुसार अपने पाँवों पर भरोसा और आँखों पर विश्वास से ही आपदा में संघर्ष की प्रेरणा मिलती है। यहाँ रोचक बात यह है कि इस तरह के पद रविदास के सन्दर्भ से अकादमिक चर्चाओं में हमेशा ग़ायब रहे हैं। ये ही असली पद हैं जहाँ रविदास का वजूद है लेकिन इन्हें ही बौद्धिक बहसों में जगह नहीं मिलती। ख़ुद *अमृतवाणी, रैदास परिचई* और *आदि ग्रंथ* में यह सभी पद उपेक्षा के शिकार हैं। आदिग्रंथ में तो ख़ैर हैं ही नहीं लेकिन जहाँ हैं भी, वे पाठ के सीमान्त पर हैं जहाँ किसी का ध्यान भी नहीं जाता। इनको आधार बनाकर रविदास को नए तरीक़े से समझा जा सकता है। कह सकते हैं कि यह भी एक प्रकार से औपनिवेशिक बौद्धिकों का चुना हुआ बहिष्करण

है जहाँ रविदास की भक्ति और समर्पण वाले पदों को आगे किया जाता रहा है। रविदास के विशिष्ट अध्येता विनांद एम. कैल्वर्त भी इसके शिकार रहे हैं[24] ऐसे लोग संयम व सत्संग के भीतर से निकले सामूहिक सामाजिक मुक्ति के प्रयास को नज़रअन्दाज़ करते हैं जबकि रविदास के यहाँ संयम व सत्संग पर बहुत ज़ोर है।

फ़िलहाल उनका यह पद देखें :

दुखियारी दुखियारी जग माहिं मन जप ले राम पियारा रे
गढ़ कांचा तस्कर तिह लागा तू काहे न जाग अभागा रे
नैन उघारि न पेखियो तूने मानुष जनम किह लेखा रे
पाऊँ पसार किम सोय पर्‌यो तैं जनम अकारथ खोया रे
जन रविदास राम नित भेटहिं रहि संजम जागित पहरा रे।[25]

इसी प्रकार यह पद भी महत्त्वपूर्ण है जिसकी चर्चा न के बराबर हुई है। कितने दु:ख व पीड़ा के बीच यह पंक्तियाँ निकली होंगी जहाँ वे कहते हैं कि 'चरण सरन रविदास चमयिया' रविदास चमार अब आपकी शरण में है जो बहुत दीन है और आप तो दयावान हैं। ऐसे पद निश्चय ही बहुत पीड़ा के भीतर से निकलते हैं। इसी में वे यम के पाश से मुक्ति दिलाने की बात करते हैं :

जन को तारि तारि नाथ रमयिया कठिन फंद परियो पञ्च जमइया
तुम बिन सकल देव मुनि ढूँढूँ कहूँ न पाऊँ जम पास छुड़इया
हम से दीन दयाल न तुम सर चरन सरन रविदास चमयिया।[26]

इसी प्रकार से उनका यह पद भी है जिसमें वे ख़ुद को 'खीन दुखी विसियार' कहते हैं : क्षीण-दुखी और विषयों की खान। इसमें भी अपने समय की आपदा का दबाव दिखाई देता है। एक निराशा है जिससे उनका कवि बाहर आना चाहता है। कवि की असल में यही भूमिका भी होती है जहाँ किसी विपदा के बीच वह एक सामूहिक लोक का प्रतिनिधित्व करता है :

प्रभु जी तुम अवगुन बख्शन हार
हौं बहु नीच ऊधरौ पातकी मूरखि निपट गँवार
मो सम पतित अधम नहिं कोऊ खीन दुखी विसियार
नाम सुनकि नरकु भजे है तुम बिन कवनु हमार
पतित पवन बिडद तिहारो आइ परों तोहि दुआर
कहि रविदास एहू मन आसा निज करि लेहु उभार।[27]

कोरोना की महामारी के सन्दर्भ में जब हम रविदास को याद करते हैं तब यह बात साफ़ है कि उनकी कविताएँ अपने समय का वायरल इफ़ेक्ट जैसी रही हैं। उनका *अमृतवाणी* में एक पद है जिसमें वे एक पंक्ति में कहते हैं : तुम मखतूल सुपेद सपीयल हम बपुरे जस कीड़ा अर्थात् प्रभु,आप रेशम हैं और हम कीड़ा। यहाँ कीड़ा का सन्दर्भ समय के विषाणुवीय प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है यद्यपि यह सही है कि रेशम का कीड़ा सर्जनात्मक होता है और कपड़े के बनने का कारण होता है लेकिन इससे रविदास के प्रतीकों को समझा जा सकता है और उनके युगीन मानस को भी। पूरा पद कुछ इस प्रकार है :

तुम चन्दन हम इरंड बापुरे संगि तुम्हारे बासा
नीचे रुख ते ऊँच भये हैं गंध सुगंध निवासा
माधव सत्संगति सरनि तुम्हारी
हम अवगुन तुम उपकारी
तुम मखतूल सुपेद सपीयल हम बपुरे जस कीरा
सत्संगति मिलि रहिये माधव जैसे मधुप मखीरा
जाती ओछा पाती ओछा ओछा जनमु हमारा
राजा राम की सेव न किन्हीं कहि रविदास चमारा।[28]

इस सन्दर्भ में एक और पद को लिया जा सकता है जिसमें वे कहते हैं कि हे प्रभु, यह संसार रूपी भवसागर अनंत दु:खों से भरा हुआ है और जीव को समझ ही नहीं है कि यह भवसागर वह पार कैसे करे! इसको वे सूक्ष्म सत्ता के प्रति भक्ति से सम्भव करने की बात भी करते हैं जिससे भक्ति रूपी नाव, परोहन, पर बैठकर कोई पार हो सकता है, आरोहण कर सकता है। यह पद शुरू ही होता है : गोबिंदे भौजल व्याधि अपारा/ ता तें कछु सूझत वार न पारा। वास्तव में रविदास का निर्गुण संत काव्य वहाँ से शुरू होता है जहाँ से सगुण की रूपगत सीमाएँ स्पष्ट होने लगती हैं। जीवन की कठिन स्थितियों में जब ब्रह्म का अवतारी रूप साथ नहीं देता तब ब्रह्म के सूक्ष्म नाम-सत्ता की तरफ़ मनुष्य का बढ़ना स्वाभाविक है और कवि के रूप में भक्ति काल के अन्तर्गत रविदास ने मनुष्य के इसी अन्तर्जगत को समझा है। ऐसे में मनुष्य को यह लगना स्वाभाविक है कि जिस रूप को लेकर सभी प्रकार के वर्चस्व और सत्ता-केन्द्रित विमर्श रचे जाते हैं, वह विपरीत स्थितियों में स्वयं कितना कमज़ोर और असुरक्षित होता है। इसे इस महामारी के सन्दर्भ में हम सबने देखा है जब दुनिया के हर धर्म के सगुण ईश्वर ख़ुद को क्वारंटीन कर चुके हैं और जनता इसी ईश्वर के नाम पर मरने के लिए सड़क पर छोड़ दी गई है।

कह सकते हैं कि विज्ञान की तमाम अक्षमताओं के बीच यह कविता है जो अपने समय की इतनी सूक्ष्म पड़ताल कर सकती है और बदलते मानस का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सकती है। रविदास की जो काव्य-प्रतिभा थी वह अपने समय की महामारी के बीच अपने काव्यबोध को विकसित कर रही थी। सामन्ती शोषण, वर्णगत श्रेष्ठता के अन्तर्विरोध तो उनके यहाँ थे ही लेकिन इन सभी से वह प्रतिवाद भी करते हैं लेकिन उसके पीछे महामारी का दबाव सतत कार्य करता रहता है जिसमें उन्होंने ईश्वर की निरीहता को बहुत क़रीब से देखा था और इसी नाते उन्होंने रामनाम की सत्ता को आधार बनाकर कमज़ोर को भी आवाज़ और ताक़त देने की कोशिश की। इसी नाते रविदास के यहाँ स्वर्ण और वर्ण के तिरस्कार के पीछे चेतना दिखाई पड़ती है। रविदास स्वर्ण और वर्ण दोनों के ही सवर्ण रूप का निषेध करते हैं। अत: रविदास स्वर्ण के साथ वर्ण का निषेध करने वाले महान कवि हैं। इसके पीछे उस समय की बीमारी और संत्रास की स्थितियों का दबाव भी काम कर रहा होगा।

रविदास अपने समय के पीड़ित कवियों में रहे जिसका एक-एक शब्द दर्द के दाग़ से दागा हुआ है। उनके भीतर अपने समय की पीड़ा लहर लेती रहती है। यही पीड़ा उनके भीतर गहरे सामाजिक बोध को विकसित करती है जिसमें वह न केवल अपने समय की महामारी की दुविधाओं को समझते हैं बल्कि भविष्य को इससे मुक्त रखने की कोशिश भी करते हैं। महामारी की सामाजिक पीड़ा के निराकरण के लिए रविदास मन्दिर के राम पर विश्वास नहीं

करते हैं बल्कि मन के राम पर विश्वास करते हैं। उनके पदों में हरि की उपस्थिति रोचक है जिसका अर्थ है प्रत्येक मनुष्य के लिए ईश्वर है लेकिन सामन्ती व्यवस्था ने ईश्वर को मनुष्य से दूर कर दिया है। रविदास अन्तर्निहित ज्ञान से जुड़ने वाले कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं न कि घोंघा बसन्त पुरोहित राज के वर्चस्व को बनाए रखने वाले कवि के रूप में। आज के समय में उनका अध्ययन देश भाषा के अन्तर्गत उत्पन्न हुई सामाजिकता का अध्ययन है जिसके अन्तर्गत आरोपित ज्ञान नहीं, अन्तर्निहित ज्ञान का मूल्य होता है। जिस प्रकार देशज मनुष्य अपने समय की आपदा का शिकार होता हुआ भी एक अनिवार्य जीवट व जीवंत जीवन को जीना चाहता है वैसे ही देशभाषाएँ भी वर्चस्व की भाषा से टकराती हुई जीवंत सामाजिकता का भाषायी रूप धारण करती हैं। स्पष्ट है कि रविदास अपने समय के संत्रास व आपदा से बचने के लिए ईश्वर की नहीं, कविता की शरण में जाते हैं जिस पर अभी पर्याप्त विश्लेषण करने की ज़रूरत है।

सन्दर्भ

1. जगतगुरु रविदास अमृतवाणी (2010), पद संख्या 23.
2. मार्क होइन्सबॉम (2019).
3. चिन्मय तूँबे (2020).
4. डॉ. मोतीचन्द्र (2010), 155-58.
5. संत सुरिंदर दास (2010).
6. गेल ऑम्वेट (2008).
7. अमृतवाणी, पद 1.
8. पृथ्वी सिंह आज़ाद (1975).
9. शुकदेव सिंह (2003).
10. अमृतवाणी, पद 23.
11. विजयेन्द्र स्नातक (1992).
12. डॉ. मोतीचन्द्र (2010).
13. सौरव राय (2020), https://hindi.newslaundry.com/2020/04/07/coronavirus-pandemic-plague-history-colonialism 10 जून, 2021 को देखा गया।
14. इनायतुल्ला ख़ान (2013).
15. सैयद अहमद (2007), 225 -26.
16. सौरव राय (2020), https://hindi.newslaundry.com/2020/04/07/coronavirus-pandemic-plague-history-colonialism 10 जून 2021 को देखा गया।
17. बाबरनामा (तिथिहीन), 448.
18. शुकदेव सिंह (2003).
19. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (1955).
20. जी डब्ल्यू ब्रिग्स (2014).
21. अमृतवाणी, पद 113.
22. अमृतवाणी, पद 107.
23. रैदास बानी, 162.
24. विनांद एम कैल्वर्त और पीटर फ्रीडलैंडर (1992).
25. अमृतवाणी, पद 136.

26. अमृतवाणी, पद 115.
27. अमृतवाणी, पद 126.
28. अमृतवाणी, पद 9.

सहायक ग्रंथ

अमृतवाणी (2010), सम्पादक : संत सुरिंदर दास, श्रीगुरु रविदास जन्मस्थान पब्लिक चैरिटेबल ट्रस्ट, वाराणसी।

इनायतुल्ला ख़ान (2013), *विजीटेशन ऑफ़ प्लेग इन मुग़ल इंडिया, प्रोसीडिंग्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस,* वॉल्यूम 74।

गेल ऑम्वेट (2008), *सीकिंग बेगमपुरा,* नवयाना पब्लिशिंग लिमिटेड, नई दिल्ली।

चिन्मय तूँबे (2020), *एज ऑफ़ पैंडेमिक,* हार्पर कॉलिन्स, नई दिल्ली जगतगुरु रविदास।

पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (1955), *काशी नागरी प्रचारिणी सभा* पृथ्वी सिंह आज़ाद (1975), गुरु रविदास, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली।

बाबरनामा, अनुवाद ए. एस. बेवरीज, लो प्राइस पब्लिकेशंस, दिल्ली।

मार्क होइन्सबॉम (2019), द *पैंडेमिक सेंचुरी,* पेंगुइन रैंडम हाउस, भारत।

जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स (2014), द *चमार्स,* सम्यक प्रकाशन, दिल्ली।

डॉ. मोतीचन्द्र (2010), *काशी का इतिहास,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

सैयद अहमद (2007), *तुज़ुके जहाँगीरी,* सर सैयद अकादमी, अलीगढ़।

शुकदेव सिंह (2003), *कबीर रैदास गोष्ठी—रैदास बानी,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

विजयेन्द्र स्नातक (1992), *बल्लभाचार्य,* नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली।

विनांद एम कैल्वर्त और पीटर फ्रीडलैंडर (1992), द *लाइफ़ एंड वर्क ऑफ़ रविदास,* मनोहर, दिल्ली।

शुकदेव सिंह (2003) रैदास बानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

भारतीय मुस्लिम समाज में जाति और पितृसत्ता : साहित्य और इतिहास के वृत्तान्त

संतोष कुमार राय

साहित्यिक ग्रंथों को इतिहास से जोड़ने की एक लम्बी और समस्यापूर्ण परम्परा रही है। सम्बन्ध की समस्या न केवल यह मानती है कि साहित्य और इतिहास की श्रेणियाँ पहले से ही स्पष्ट हैं, बल्कि इसका अर्थ यह भी है कि दोनों के बीच विरोध भी है। साहित्य को अक्सर एक विशेषाधिकार-प्राप्त स्थल के रूप में देखा जाता है जहाँ इतिहास का निर्धारण बाधित होता है, उससे पूछताछ की जाती है या उस पर प्रश्नचिह्न लगते हैं। नई ऐतिहासिकता ने साहित्य की श्रेणी को लचीला बनाया है, उसे आकस्मिकता और संघर्षपूर्ण चरित्र प्रदान किया है। वस्तुत: साहित्य और इतिहास, दोनों की श्रेणियों के उत्पादन के बीच जटिल सम्बन्धों को प्रदर्शित करके 'नई ऐतिहासिकता' ने पारम्परिक इतिहास-लेखन और साहित्यिक आलोचना की सीमाओं के लिए चुनौती पेश कर दी है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तर-आधुनिक विद्वान हेडेन ह्वाइट ने इतिहास को आख्यान मान लेने की पैरोकारी की, तब से इतिहास-लेखन में भी आख्यान के इस्तेमाल की प्रवृत्ति बढ़ी है और इससे इतिहास की प्रस्तुति में रोचकता, रचनात्मकता और पठनीयता पैदा हुई है। यूँ तो इतिहास-लेखन में आख्यान का प्रयोग पहले भी होता रहा है, लेकिन अब वह एक ऐसा आख्यान हो गया है, जो यथार्थवाद को विचारधारा से जोड़ता है।[1]

वास्तव में इतिहास को साहित्य का आधार बनाकर जब साहित्यकार अपनी किसी रचनात्मक परियोजना में प्रवृत्त होता है तब वह अनुमानों की अपेक्षा संभाव्य सत्य की ओर जाता है। इतिहास में घटनाओं की सच्चाई के अन्वेषण के लिए आख्यान का अन्वेषण होता है जबकि साहित्य में आख्यान के माध्यम से पात्रों के जीवन-संघर्ष और मानसिक सोच-विचार की अभिव्यक्ति होती है। फिर भी, किसी भी साहित्यिक रचना का अस्तित्व इतिहास के भीतर ही पनपता है, इतिहास के बाहर नहीं। साहित्य अपने सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक वातावरण को प्रतिबिम्बित करता है इसलिए किसी भी साहित्य को समझने के लिए उससे सम्बन्धित इतिहास, जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक स्थितियों को काल और

स्थान के सन्दर्भ में समझना आवश्यक है। इसी पृष्ठभूमि में यह लेख प्रयास करता है कि कैसे अभिलेखागार और साहित्य में व्यक्त लोकप्रिय संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध और संवाद भूतकाल और वर्तमान की जड़ता के साथ-साथ भविष्य की हमारी सामाजिक और राजनीतिक कल्पना को आकार देने वाली इच्छाओं के बारे में महत्त्वपूर्ण ज्ञान उपलब्ध कराते हैं। यह लेख राही मासूम रज़ा के उपन्यास *आधा गाँव* के साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय मुस्लिम समाज में जाति की समस्या का ऐतिहासिक मूल्यांकन करने का प्रयास करता है। इस ऐतिहासिक-साहित्यिक सन्दर्भ में, यह लेख औपनिवेशिक संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम समाज पर चर्चा करते हुए यह स्पष्ट करता है कि पूर्व-औपनिवेशिक भारत में प्रचलित लिंग और जाति संरचना को किस प्रकार सामाजिक-आर्थिक गठन द्वारा और मज़बूत किया गया। मुस्लिम अभिजात ने वर्गीय गतिशीलता हासिल करते हुए जाति और पितृसत्ता के मानदंडों के कड़े संरक्षण के द्वारा अपनी सामाजिक स्थिति को बनाए रखने का प्रयास किया। जाति-वर्ग का शोषण और हाशिये के तबक़ों पर उसका यह आधिपत्य ज्ञान के प्रवचन, सामाजिक मूल के आख्यानों और लैंगिक सम्बन्धों के बीच आन्तरिक अधीनस्थता के माध्यम से प्रचलित किया गया था। निचले दर्जे के बुनकर मूल रूप से व्यावसायिक वर्ग की पहचान रखते थे पर स्वयं को एक जाति समूह के रूप में प्रदत्त कई पहचानों के साथ दिखते थे। एक असमान सामाजिक-आर्थिक स्थिति द्वारा जातीय और लैंगिक अधीनता सुनिश्चित करने की अन्तर्निहित स्थितियों की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत लेख बुनकरों के प्रतिरोध और समानता की तलाश के उदाहरणों का वर्णन करता है। एक ओर जाति द्वारा प्रदत अनिवार्य हैसियत का कलंक और दूसरी ओर पूँजीवादी औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और राजनीति के भीतर उनका एकीकरण, जैसे कारक कई विरोधाभासों के माध्यम से उत्पन्न हुए थे। यह लेख सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं, प्रचलित विचारधाराओं और औपनिवेशिक वैधता और गतिशीलता की धारणाओं द्वारा मध्यस्थता के इन्हीं जटिल तरीक़ों के माध्यम से पदानुक्रम और उसके प्रतिरोध के इतिहास की पड़ताल करता है।

'आधा गाँव' में जाति और पितृसत्ता

उत्तर प्रदेश के भोजपुरी भाषी क्षेत्र की पृष्ठभूमि में सृजित उपन्यास *आधा गाँव* का कथास्थल इसके लेखक राही मासूम 'रज़ा' का अपना पैतृक गाँव 'गंगौली' है जो कि गाजीपुर, उत्तर प्रदेश की मोहम्मदाबाद तहसील के कासिमाबाद थाने में गाजीपुर ज़िला मुख्यालय से उत्तर दिशा में बारह मील दूर स्थित है। 'गंगौली' नाम का यह गाँव सामाजिक विभाजन के पहलू से शिया और सुन्नियों में, सैयदों और जुलाहों में, उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टी में और यदि आसपास के पुरवों को भी लें तो हिन्दुओं और मुसलमानों में, छूतों और अछूतों में और एक निश्चित सीमा तक ज़मींदारों और असामियों में बँटा हुआ है। इस उपन्यास का तर्क यह है कि यदि मानव समाज धार्मिक खाँचों में बँटा है, उसकी राजनीतिक चेतना पृथक् है और कालगत, देशगत एवं जातिगत विशिष्टता मूल्य निर्धारण में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करती है तो उन भिन्नताओं में उनको विश्लेषित करना लेखक का अनिवार्य दायित्व है।

गंगौली का भौगोलिक और सामाजिक संगठन उत्तर भारतीय समाज में व्याप्त जाति सम्बन्धी चिन्ताओं को उजागर करता है। प्रमुख जाति समूह इसके केन्द्रीय स्थान पर क़ाबिज़ हैं और कमज़ोर वर्ग गाँव की भौगोलिक और सामाजिक परिधि पर रह रहे हैं। गंगौली के

सामाजिक संगठन के बारे में दिलचस्प बात यह है कि हिन्दू समुदाय में स्पष्ट जाति पदानुक्रम गंगौली के मुसलमानों में व्यापा हुआ है। हिन्दुओं की तरह मुसलमानों में भी कई प्रकार के सामाजिक भेद हैं। हड्डी की शुद्धता या रक्त की शुद्धता पर भी बहुत ज़ोर दिया जाता है। सैयद (ब्राह्मणों की तरह) मुसलमानों के चार समुदायों में सबसे उच्च हैं, उसके बाद शेख़, पठान और मुग़ल और फिर 'निम्न' जाति के बुनकर और राकी (सुन्नी व्यापारी) हैं। *आधा गाँव* में सैयदों की श्रेष्ठता के साथ जाति निश्चित रूप से प्रतिगामी और शोषण का आधार है, पर भौतिक रूप से यह हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच व्यापक साम्प्रदायिक विभाजन को कम करती है। इसके अलावा, जाति और वर्ग (हिन्दू ठाकुर और राजपूत और मुस्लिम सैयद दोनों प्रमुख ज़मींदार हैं) को मिलाकर, रज़ा ने संघर्ष के क्षेत्र को धार्मिक पहचान, पितृसत्ता और वर्गीय अस्मिता के प्रश्न में स्थानान्तरित कर दिया। आर्थिक रूप से चाहे व्यक्ति कितना भी सम्पन्न हो पर यदि उसकी हड्डी में दाग़ है तो उसे समाज में वह स्थान कभी नहीं मिल सकता जो शुद्ध हड्डी वाले निर्धन व्यक्ति को मिलता है।[2] उपन्यास के पात्र अशरफ़ुल्ला ख़ाँ को अपने पठान होने पर गर्व है—'हम ठहरे पठान लोग। हमारे यहाँ तो दोस्ती और दुश्मनी के अलावा कोई और पैमाना ही नहीं होता। दोगली हरकतें करना शेख़ों और नीच जात वालों का काम है।'[3] सैफुनिया से विवाह करने के पश्चात् मिगदाद अपने पिता की खरी हड्डी को चैलेंज करते हुए कहता है, 'बाक़ी हम्में त इहो मालूम है कि हमहूं सैय्यद ना हैं। बाक़ी जना रहा कि अब्बा ई बतिया बिलकुले भूल गए हैं। ऊ त एकद्म्मे से सय्यद हो गए हैं और अब त जब से बड़के अब्बा की शेरवानी पा गए हैं तब से अउरो मारे इतराए लगे हैं।'[4] कुछ ऐसी ही स्थिति सैयद 'अब्बास' के साथ बनी हुई थी क्योंकि उसने सोचा कि "मियाँ लोगों की ग़ैरहाज़िरी का फ़ायदा उठाकर वह अनवारुल हसन राकी के लड़के फ़ारूक़ से क्यों न मिल आए जो अलीगढ़ में ही पढ़ता था और उसका सीनियर था और अखिल भारतीय मुस्लिम स्टूडेंट फ़ेडरेशन का उपसभापति था। मियाँ लोगों के सामने तो वह रकियाने जा नहीं सकता था। बड़े जूते पड़ते...'मियाँ अब्बू, तुम इतने बड़े हो गए और तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि अशराफ़ राकियों-वाकियों के दरवाज़े पर नहीं जाते!'[5] यह उपन्यास बताता है कि किस प्रकार मुसलमानों या हिन्दुओं की कोई 'एक' श्रेणी नहीं है। शिया सैयद हैं, जो उच्च जाति के ज़मींदार, सुन्नी व्यापारी और बुनकर हैं, जिन्हें निचली जाति का माना जाता है। इसी तरह, हिन्दुओं में एक ओर शक्तिशाली ठाकुर उच्च जाति से हैं, तो अहीर के नीचे भर और चमार हैं जो गाँव में सबसे निचली जाति हैं। यहाँ तक कि गाँव के शिया सैयद भी आपस में बँटे हुए हैं : उत्तर पट्टी और दक्षिण पट्टी के बीच। फिर भी कम्मो अलीगढ़ के छात्रों के सुझाव पर स्तब्ध है। वे मुस्लिम लीग के लिए प्रचार कर रहे हैं कि अगर पाकिस्तान नहीं बनाया गया तो मुस्लिम 'अछूत' बन जाएँगे—'ऐ भाई, यह मुझे ऐसा लगता है जैसे आपको शिक्षित करना समय की बर्बादी हो गई है और क्या? अगर आप लोगों को यह भी पता नहीं है कि भंगी और चमार अछूत हैं। आपको क्या लगता है कि हम किस तरह के भंगी या चमार हैं? और जो अछूत नहीं है, वह कैसे एक हो सकता है, साहब?'[6]

यहाँ औरतें भी जाति विशेष की सम्पत्ति के रूप में अधीनस्थता को स्थापित करने, उसे बनाए रखने और उसके प्रतिदिन के पुनरुत्पादन का माध्यम थीं। सैयद परिवारों की औरतों के व्यभिचार की कहानियाँ तो थीं पर इन कहानियों में भी हड्डी और जाति का ख़याल रखा जाता था, "यानी यह कभी नहीं हो सकता कि फ़लाँ की बीवी फ़लाँ राकी या जुलाहे से फँसी हुई है।" और राकियों और जुलाहों के छोकरे तो सोच भी नहीं सकते थे कि बड़े

फाटक (सैयद ज़मींदार का दरवाज़ा) में रहने वाली कोई लड़की उनके हत्थे चढ़ सकती है।[7] तभी तो स्त्री की पुनरुत्पादन क्षमता जातीय ख़ून की शुद्धता बनाए रख पाती है। पर यही मापदंड दूसरी जातियों को नीचा दिखाने हेतु उलट दिया जाता था। उपन्यास की शुरुआत में मासूम को सैयद ज़मींदारों के घरों की भूल-भुलैया से गुज़रते और अपनी माँ से दूर भागते हुए दिखाया गया है जो उसकी बड़ी बहन को परेशान करने के कारण उसे 'मारने' के लिए दृढ़ हैं। वह नईमा दादी के बिस्तर के नीचे शरण पाता है, जहाँ वह एक द्वंद्व में पड़ जाता है। नईमा बुनकर जाति से ताल्लुक़ रखती हैं और मासूम के दादाओं में से एक की दूसरी पत्नी हैं। अपनी जाति के कारण वह सैयद महिलाओं के समान इज़्ज़त की हक़दार नहीं हैं क्योंकि 'नईमा दादी आख़िरकार जुलाहिन ('बुनकर जाति की महिला') थीं और सैयद महिलाओं के साथ नहीं रह सकती थीं।' यह स्पष्ट है कि पुरानी पीढ़ी के लोग इस बात का बहुत ध्यान रखते थे कि कौन कहाँ बैठ सकता है और कहाँ नहीं।[8] फिर उसे आश्चर्य होता है कि उसके एक अन्य रिश्तेदार छोटे दा ने अपनी अच्छी-ख़ासी गोरी-चिट्टी पत्नी को एक वेश्या के लिए क्यों छोड़ दिया, जिसे ज़मींदार महिलाएँ काली चमड़ी और बदसूरत, और इसलिए बंगाली, के रूप में वर्णित करती हैं। यहाँ *आधा गाँव* जाति-लिंग समीकरण पर टिकी मौजूदा सामाजिक व्यवस्था ही नहीं बल्कि स्थान और काल से आगे जाकर उस तथ्य की पुष्टि करता प्रतीत होता है जिसने बड़े पैमाने पर गंगौली के दैनिक जीवन में सामाजिक सम्पर्क के नियमों, शर्तों और प्रकृति को निर्धारित किया है। इस उपन्यास में जाति और लिंग एक पिरामिड के समान अधीनस्थता के स्तर का निर्माण करते हैं। झंगटिया-बो को चमार जाति का होने के कारण हमेशा अछूत माना जाता है। नईमा-बी ख़ुद एक बुनकर जाति की महिला थीं लेकिन झंगटिया-बो के सामने वह एक शुद्ध सैयदानी बन जाती थीं और उस अपमान का बदला लेतीं जो उसके साथ अन्य सैयदानियों ने किया था। झंगटिया-बो बिना किसी नाराज़गी के इस तरह के व्यवहार को स्वीकार करती हैं। यह वास्तव में भारतीय समाज में जातीय सर्वोच्चता और उसके लैंगिक परिणामों का सूक्ष्म वर्णन है।[9]

एक बालक को किस प्रकार वर्गीय भेदभाव और उसके मानक जाति पदानुक्रम के प्रतिदिन के व्यवहार में ढाला जाता है, इसका भी वर्णन इस उपन्यास में है। जैसे ही लेखक और उसके परिवार को ले जाने वाली लॉरी गाँव में प्रवेश करती है, उसे अर्ध-नग्न, उत्पीड़ित लोगों का एक समूह दिखाई देता है—सड़क किनारे खड़े निम्न जाति के लड़के। वह जानना चाहता है कि उन्होंने पाजामा क्यों नहीं पहना है और उसके चाचा कहते हैं : 'क्योंकि वे हरामजादे हैं!'[10] यहाँ वस्त्र पहनना आर्थिक हालात नहीं जातिगत मूल्य से जोड़ दिया गया है। कुछ घंटों बाद ही गाँव में घूमते हुए, मासूम को बुनकर जाति के कुछ बच्चे कबड्डी खेलते हुए मिलते हैं और वह उनके साथ जुड़ जाता है। खेल के दौरान वह दूसरी टीम से घिरा होता है और हारने ही वाला है कि अचानक उसे खुरदुरे हाथों से बचाया जाता है और वह गया अहीर (एक पिछड़ी जाति का हिन्दू जो एक मुस्लिम ज़मींदार के घर में एक वफ़ादार सेवक है) को बुनकर लड़कों पर चिल्लाते हुए सुनता है : 'अब तुंह लोगन अइसन लाट साहेब हो ग़इल बाड़ा की मीर साहेब (ज़मींदार) के लइकन से कबड्डी खेलबा ?' वह मासूम को उठाता है और उससे कहता है, 'आप एक मियां (एक ज़मींदार परिवार के) हैं। आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।'[11] इसी प्रकार आज़ादी के बाद भूमि सुधारों और सामाजिक–आर्थिक बदलावों के कारण जब ज़मींदारों और उनके परिवारों के लिए धन अर्जित करना और ज़मींदारी श्रेष्ठता को बनाए रखना और नए काम-काज करके धन कमा रहे हम्माद से

निपटना मुश्किल हो जाता है तब अपने जातीय सम्मान को बनाए रखने के लिए वे केवल इस बात से तसल्ली कर लेते हैं कि हम्माद की हड्‌डी में एक बुनकर (निम्न जाति) स्त्री नईमा का ख़ून है।"[12] यही बात थी कि जुलाहिनें सैयदानियन से अकड़ने के क़ाबिल नहीं थीं और यही कारण था कि गाजीपुर के दौलतमंद जुलाहे, बनिये और कुँजड़े सम्पन्न होने के बावजूद उर्दू अदब के लायक़ नहीं माने जा सकते थे।[13]

हम्माद का विद्रोही बेटा मिगदाद अपने खेतों में हाड़तोड़ मेहनत करता है, अपने जानवरों की देखभाल करता है और एक साधारण किसान की तरह धोती पहनता है। वह जो करता है उस पर बहुत गर्व करता है, और उसका आत्मविश्वास उसे नाई जाति की मुस्लिम महिला सैफुनिया से शादी करने का साहस देता है। उसे सैफुनिया को एक रखैल के रूप में लेने की सलाह दी जाती है लेकिन वह मना कर देता है। उसकी शादी के कुछ साल बाद मासूम का चचेरा भाई तन्नू फ़ौज से वापस छह साल की अनुपस्थिति के बाद गाँव आता है। मिगदाद उसे गाँव के चारों ओर दिखाता है जहाँ कई नए घरों का निर्माण किया गया है। तन्नू नाई रहीम के ख़ाली घर के सामने रुकता है (रहीम मिगदाद का ससुर है) और उसके बारे में पूछता है। मिगदाद तन्नू को बताता है कि चूँकि उसने रहीम की बेटी से शादी करने पर ज़ोर दिया था, इसलिए मौलवी के अलावा कोई भी व्यक्ति उसकी बारात में नहीं गया था। उनके विवाह ने उत्तरी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र के ज़मींदारों के बीच के झगड़े को भी समाप्त कर दिया था क्योंकि वे सभी उस शादी के ख़िलाफ़ एकजुट हो गए थे। उन्हें लगा कि उनकी 'नाक काट दी गई है।' नाई समुदाय के मुखिया को ज़मींदारों ने कहा कि यदि वह दुल्हन के पिता रहीम को दंडित नहीं करता है, तो वह उस भूमि से वंचित हो जाएगा जिस पर वह जुताई कर रहा था। परिणामस्वरूप, रहीम को सामाजिक बहिष्कार की सज़ा दी गयी। कोई भी व्यापारी उसे कुछ भी नहीं बेचता था और हम्माद ने उससे वह भूमि ले ली थी जिस पर रहीम खेती करता था। इसके तुरन्त बाद उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई और रहीम हमेशा के लिए गाँव छोड़कर चला गया।[14]

यूँ तो राही का लेखन धर्म, सम्प्रदाय और राष्ट्रवाद के नितान्त असहज कर देने वाले प्रश्नों पर ही केन्द्रित रहा है लेकिन जैसे ही यह आधुनिक भारत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से जुड़ता है, वह भारतीय मुस्लिम समाज में जाति और लिंग के प्रश्न को भी केन्द्र में लाकर खड़ा कर देता है और राजनीति के साथ इसके जुड़ाव को उघाड़कर रख देता है। जाति और लिंग सम्बन्धित विवेचन के सन्दर्भ में यह स्वीकार करने में कोई गुरेज नहीं होना चाहिए कि हाशिए के वर्गों का चिन्तन और दृष्टिकोण पितृसत्ता, सामंती मानसिकता तथा जातीय पूर्वग्रहों के तंग घेरे से निकलने का हर सम्भव प्रयास करता दिखाई देता है। साथ ही, उनके औपन्यासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण एवं प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी देखें तो उनके पात्र जाति और पितृसत्ता के प्रश्न को दरकिनार कर आगे नहीं बढ़ जाते हैं। समय के जिस कालखंड की प्रमुख राजनीतिक घटनाएँ उनके सर्जनात्मक मानस की निर्मिति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, उस दौर का सामाजिक यथार्थ भी अपनी समस्त विषमताओं एवं विद्रूपताओं के साथ उनके सृजन-कर्म में दर्ज होता चला जाता है। अपनी रचनाधर्मिता में राही जाति और लिंग से सम्बन्धित कटु प्रश्नों का सामना करते हुए तटस्थ, आग्रह-मुक्त एवं द्वेषहीन मानस से काम लेते हैं। उनका यह नज़रिया उन्हें अपने समय की पड़ताल करने की ताक़त देता है।

अब सवाल उठता है कि राही मासूम रज़ा की इस सामाजिक समझ का हम क्या करें? वह हमारे लिए किस काम की है? राही मासूम रज़ा के इस वृत्तान्त में दक्षिण एशिया में

मुस्लिम समुदाय द्वारा अनुभव किए गए इस्लाम के भीतर आन्तरिक सामाजिक अन्तर्विरोधों की व्याख्या करने की आवश्यकता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के औपनिवेशिक भारत के सामाजिक परिवेश को समझने हेतु, उस समय की राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में मुस्लिम अस्मिता निर्माण के विभिन्न पहलुओं के उद्भव पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है। औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में मुस्लिम होने के रोज़मर्रा के जीवन को जिस प्रकार पुन: जिया और अनुभव किया गया है, वह जीवन चक्र और शैली ही इस्लाम की समग्र शास्त्रीय धारणा के स्थान पर इस क्षेत्र की सामाजिक वास्तविकताओं और पदानुक्रमों के साथ वास्तविक संवाद करती है। दक्षिण एशिया की भौतिक संस्कृति में भारतीय मुस्लिमों के बीच प्रचलित सामाजिक स्तरीकरण इस तर्क को मज़बूत करता है कि 'शाब्दिक इस्लाम' और 'जिया गया इस्लाम' एक ही और समान नहीं हैं।[15] इस सम्बन्ध में मुस्लिम बुनकरों के इलाक़ों और समुदायों के अध्ययन के माध्यम से मुस्लिम धार्मिक पहचान से जुड़ी अधिकतर चर्चाएँ समुदाय के भीतर की विविधता की अनदेखी करते हुए और उस पर धर्म की सार्वभौमिक पहचान को थोपते हुए मुसलमानों का 'स्टीरियोटाइप' पेश करती हैं। भारतीय मुस्लिम पहचान को एक अखंड रूप में देखने के बजाय निचली जाति के मुसलमानों की नज़र से अस्मिता की कहानी बताती है कि जाति और वर्ग मुस्लिम समाज के भीतर पहचान के महत्त्वपूर्ण मुक़ाम बने हुए हैं और कभी-कभी, उनमें इस्लामी धार्मिक पहचान को गौण कर देने की क्षमता भी होती है।

जातीय पितृसत्ता के दावे और अस्मिता का प्रतिकार

औपनिवेशिक भारत में सीमित आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने निचले सामाजिक समूहों के लिए कुछ नए अवसर सृजित किए। आधुनिक शिक्षा और रोज़गार ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता के रास्ते बन गए। जुलाहा जैसे मुस्लिम समुदाय भी उसी मार्ग का अनुसरण करने लगे जिसे समाजशास्त्रियों ने 'अशराफ़ीकरण' यानी अशराफ़ों (कुलीनों) से जुड़े रीति-रिवाजों का अनुकरण कहा है। इसके साथ ही, जुलाहा समुदाय का पुनर्गठन धार्मिक मानकों के आधार पर एकीकृत मुस्लिम समुदाय की पहचान को मज़बूत करने के साधन के रूप में भी होने लगा। दिलचस्प है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में अंसारी मुसलमान इस क्षेत्र के अन्य मुसलमानों की तुलना में आर्थिक रूप से अधिक समृद्ध समूह के रूप में उभरे। सामान्य तौर पर अंसारी, कुरैशी और बागबान जैसे श्रमिक समूहों ने अपने साथ के निचली जाति के मुस्लिम भाइयों की तुलना में आर्थिक रूप से अधिक प्रगति की। सामाजिक गतिशीलता की यह प्रक्रिया, जिसे 'अशराफ़ीकरण' या 'इस्लामीकरण' कहा जाता है, को हिन्दुओं के बीच प्रचलित 'संस्कृतीकरण' की समानान्तर अवधारणा के रूप में समझा गया है और इसके दीर्घकालिक निहितार्थ थे।[16] शेख़ की नई श्रेणी मुसलमानों के बीच ऊर्ध्वगामी गतिशीलता को उदारतापूर्वक अवशोषित कर रही थी। लेकिन तमाम चाहतों के बावजूद यह विकल्प जुलाहा जैसे ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता के नए दावेदारों के लिए इतना सरल नहीं था। वहाबी आन्दोलन के आगमन और देवबंदी स्कूलों के खुलने के साथ भारत में प्रचलित इस्लाम, इस्लाम के रूढ़िवादी अरब रूप के समर्थकों के दबाव में आया। परिणामस्वरूप सभी रीति-रिवाज जो शास्त्रीय इस्लाम की नज़र में 'ग़ैर-इस्लामी' थे, उन्हें एक विचलन के रूप में देखा गया और इसलिए उन्हें हर तरह से दूर किया जाना था। यही कारण है कि

मुस्लिम समाज के साथ-साथ वर्तमान इतिहास-लेखन में भी शुद्धतावादी इस्लाम की खोज एक समस्या रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान जुलाहों की पहचान निचली जाति के रूप में की गई थी। परन्तु, इन मुस्लिम जुलाहा बुनकरों की ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता का दावा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के समकालीन परिवेश में अपना दावा पेश करने लगा था। इस दौर के जनगणना के आँकड़े उच्च जातियों के रूप में मान्यता की माँग करने वाले विभिन्न समुदायों की याचिकाओं की संख्या की गवाही देते हैं। मसलन, मुस्लिम राजपूतों ने 1901 और 1911 की जनगणना में पठान के स्थान और 'ख़ान' की उपाधि के लिए औपनिवेशिक सरकार पर दबाव डाला। बुनकरों, तेलियों और नाइयों जैसे 'निम्न स्तर' के सभी मुसलमान शेख़ की स्थिति पाने के लिए इच्छुक थे लेकिन 'न तो उच्च वर्ग के मुसलमान उन्हें उस रूप में पहचानते और न ही वे एक-दूसरे को इस रूप में पहचानते थे'।[17] इस सामाजिक बदलाव पर एक कहावत ही प्रचलित हो गई थी कि यदि आप समृद्ध हैं तो आप शेख़ हैं, यदि नहीं तो आप जुलाहा (बुनकरों की एक निम्न दर्जे की मुस्लिम जाति) हैं।'[18]

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती वर्षों में जुलाहा बुनकरों ने जुलाहा के नामकरण को पूरी तरह से अस्वीकार करना शुरू कर दिया और ख़ुद को मोमिन, अंसारी, मोमिन अंसार या शेख़ मोमिन के रूप में पहचानने पर ज़ोर दिया। 1911 की जनगणना में उन्होंने इन श्रेणियों के तहत ही अपना पंजीकरण कराया।[19] सामाजिक स्थिति में अपने स्तर में सुधार के लिए जुलाहों की यह आकांक्षा 1911 की जनगणना में उच्च सामाजिक स्थिति का दावा करने वाले इसी प्रकार के अन्य आन्दोलनों के अनुरूप थी जैसा कि छत्तीसगढ़ के कबीरपंथियों या चमारों के मामले में देखा गया था।[20] इस कालावधि के दौरान कुर्मी, कोरी और अहीर जैसी निचली खेतिहर हिन्दू जातियाँ भी एक 'स्वच्छ' स्तर के लिए इच्छुक थीं। अहीरों ने भी क्षत्रिय मूल का दावा किया, पवित्र जनेऊ धारण किया और 'उच्च जातियों' की अनेक प्रथाओं को अपना लिया। संस्कृतीकरण और इस्लामीकरण के माध्यम से इन निचले सामाजिक समूहों द्वारा ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता की इस प्रक्रिया में मौजूदा पदानुक्रमित सामाजिक व्यवस्था में एक निश्चित उच्च स्थिति और आत्मसम्मान की माँग के लिए यह आवश्यक था कि यह समूह स्वयं को अपने धर्म के नैतिक और शुद्ध तत्त्वों के प्रति समर्पित-प्रदर्शित करें। मुस्लिम जुलाहा बुनकरों द्वारा अपने अंसारी होने के दावे के प्रति मुखर होना और अपनी बोली जाने वाली भाषा के रूप में अवधी या भोजपुरी के बजाय उर्दू पर ज़ोर देना ख़ुद को अपने समकक्ष समुदायों से अलग करने की एक जुगत भी थी। 1880 के दशक से ज़िला स्तर के गज़ेटियरों और सेटलमेंट रिपोर्टों में यह बार-बार देखा गया कि मऊ, कोपागंज और मुबारकपुर के बुनकर 'अन्य बुनकरों के विपरीत ग़ाज़ी मियाँ और उनके झंडे के उपासक' नहीं हैं।[21] अब जुलाहे अपनी सांस्कृतिक और सूफ़ी प्रथाओं से दूर जा रहे थे।

बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में ही पूर्वी संयुक्त प्रान्त के बुनाई केन्द्रों में, बरेलवी और देवबंदी जमात जैसे इस्लामी सुधार आन्दोलनों ने पुनरुत्थानवादी लक्ष्यों के साथ भारतीय मुस्लिम समाज में अपने धार्मिक-राजनीतिक और सामाजिक स्थान के लिए प्रतिस्पर्धा करना शुरू कर दिया था।[22] मुस्लिम जुलाहा बुनकरों ने इस प्रयास में, विशेष रूप से आज़मगढ़ ज़िले में अपनी अस्मिता और नामकरण के अरबीकरण पर भी ज़ोर दिया। फ़रीहा और छाउन जैसे ग्रामों के लोगों ने अपने शीर्षक नामों के रूप में 'फ़राही' और 'जिली' जैसे कठिन अरबी शब्दों का उपयोग करना शुरू कर दिया लेकिन मौजूदा स्तरित और संरचित

पदानुक्रमित मुस्लिम समाज में प्रचलित जटिल पीरी-मुर्शिदी परम्परा ने उच्च स्थिति के लिए उनके तमाम दावों के बावजूद बुनकरों के लिए उच्च स्तर प्राप्त करना बहुत मुश्किल बना दिया। यहाँ सामाजिक ढाँचे में ऐसी निचली जातियाँ सबसे नीचे होनी ही थीं क्योंकि पहले से स्थापित ढाँचों को तोड़ा नहीं जा सकता था। 'अंसार' यानी पैग़ंबर मुहम्मद के सहायक क़बीले की परम्परा के दावे द्वारा प्रारम्भिक इस्लामी शब्दावली का विनियोग हो, या ग़ाज़ी मियाँ सैयद सालार मसूद के समन्वयवादी पंथ से अलगाव न केवल निम्न जाति के परिवर्तित मुस्लिम जुलाहा बुनकरों द्वारा अरब मूल का एक विनियोग था, बल्कि एक मौजूदा सामाजिक पदानुक्रम को चुनौती देने का प्रयास भी था। ग़ाज़ी मियाँ का लोकवादी पंथ अहीरों और अन्य निचली जातियों जैसे देहाती समुदायों की जनसंस्कृति का हिस्सा बना रहा था। यह संरचनाएँ सामाजिक रूप से अधीनस्थ जुलाहों के लिए स्वतंत्र दर्जा हासिल नहीं कर सकीं। आधुनिक इस्लामीकरण की प्रक्रिया में विशेष रूप से वहाबी परम्परा के *अहल-ए-हदीस* जैसे सम्प्रदाय जो भारतीय सूफ़ी पदानुक्रम की संरचना का पालन नहीं करते हैं, मुस्लिम जुलाहा बुनकरों को एक नई सामाजिक संरचना में आवश्यक सामाजिक स्वीकार्यता प्रदान कर सकते थे क्योंकि यह पंथ मौजूदा पदानुक्रम की चुनौतियों को सही ठहराने के लिए इस्लाम द्वारा प्रदत्त समानता के विचार पर बार-बार ज़ोर दे रहे थे।

सामाजिक ऊर्ध्वगामिता का यह प्रयास पश्चिम एशियाई मूल का दावा करने वाले मुस्लिम आभिजात्य वर्गों द्वारा निर्विरोध नहीं रहा और इसकी परिणति निचली जाति और उच्च जाति के मुसलमानों के बीच सामाजिक तनाव और विवाद के रूप में हुई। उदाहरण के लिए जुलाहा अंसारी समुदाय ने समानता के अपने दावे के प्रतीक के रूप में मोमिन शब्द को चुना था लेकिन जुलाहा अंसारियों के ऐसे दावों को नकारने और उनका मज़ाक़ उड़ाने के लिए अन्य मुस्लिम समुदायों द्वारा इस नामकरण पर हमला किया गया। मुस्लिम उलेमा और विद्वानों ने विशेष रूप से 'जाति' पदानुक्रम को वैध सिद्ध करने का प्रयास किया। यद्यपि ऐसा तनाव मध्यकालीन भारतीय मुस्लिम समाज में भी मौजूद था और इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी का लेखन इस तथ्य की गवाही देता है,[23] लेकिन आधुनिक काल में ये दावे और स्पष्ट हो गए। सर सैयद अहमद ख़ान ने यह तर्क देने की कोशिश की कि 1857 के विद्रोह में मुख्य रूप से निचली जाति के मुसलमान ही शामिल थे। उन्होंने लिखा कि विदेशी वस्तुओं के कारण कारीगरों ने अपना व्यवसाय खो दिया था और 'जुलाहों की स्थिति पूरी तरह से कमज़ोर हो गई थी और हंगामे (1857 का विद्रोह)' में ये निचले लोग (बदजात) सबसे अधिक सक्रिय थे।[24] इस्लामी विद्वत्ता की अगली पीढ़ी आने तक यह विरोध इस हद तक चला गया कि उच्च वर्ण के विद्वान विलाप कर रहे थे कि 'सज्जनो! जब तक धार्मिक ज्ञान शेख़ों के पास था और अन्य जातियाँ अधीन थीं, तब तक कोई आपदा नहीं थी। परन्तु, जब से कसाई, नाई, तेली, लोहार, बिसाती, कलाल, जुलाहा, आदि मौलवी, मुदर्रिस, काज़ी, सूफ़ी और हाफ़िज़ बन गए हैं, तब से समस्याओं की लहर आने लगी है क्योंकि हदीस साबित करते हैं कि जो लोग दज्जाल में विश्वास करेंगे, वह वास्तव में जुलाहा बनेंगे।'[25] यह मामला इतने अधिक सामाजिक तनाव का कारण बना कि मौलवी अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी ने बीसवीं सदी की शुरुआत में मोमिनों पर एक फतवा ही जारी कर दिया :

> प्रत्येक मुसलमान एक मोमिन है और हिन्दुस्तान के कुछ स्थानों पर नूरबाफ या जुलाहा समुदाय को आम बोलचाल में मोमिन कहा जाता है क्योंकि वे मासूम

और विनम्र होते हैं। वे अन्य मुसलमानों के लिए हानिरहित हैं। हदीस कहते हैं कि मोमिन वह व्यक्ति है जिसके पड़ोसी उसके शोषण से बच जाते हैं। उन्हें ताने देने के लिए इस शब्द का प्रयोग ग़लत है, दूसरी बात यह कि किसी मुसलमान को अपने व्यवसाय के कारण नीच नहीं समझना चाहिए और अपमान के लिए ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[26]

मुस्तफ़ा रज़ा ख़ान ने यह भी स्वीकार किया कि 'जो अच्छाई का प्रतीक है वह शरीफ़ है और जो बुरा व्यवहार करता है वह रजील है'।[27] फिर भी मौलवी अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी (1856-1921) और मौलवी अशरफ़ अली थानवी (1863-1943) दोनों ने जन्म के आधार पर जाति श्रेष्ठता की धारणा का समर्थन किया और पवित्र क़ुरान की भावना के ख़िलाफ़ नियमित आधार पर फ़तवा जारी किया। उनके तर्क काफ़ा/कुफ़ू (समतुल्यता) की अरबी प्रथा की धारणा पर आधारित थे जो पदानुक्रमित सामाजिक समूहों के बीच सम्भावित विवाह सम्बन्धों के बारे में नियम निर्धारित करता है।[28] उन्होंने तर्क दिया कि अरब मूल के मुसलमान (सैयद और शेख़) ग़ैर-अरब या अजमी मुसलमानों से श्रेष्ठ हैं और इसलिए एक पुरुष जो अरब मूल का होने का दावा करता है, वह एक अजमी महिला से शादी कर सकता है, परन्तु इसका उलटा सम्भव नहीं है। इसी तरह उन्होंने तर्क दिया कि एक पठान मुस्लिम पुरुष जुलाहा (अंसारी), मंसूरी (धुनिया), रेइन (कुँजरा) या कुरैशी (कसाई) महिला से शादी कर सकता है, लेकिन अंसारी, रेइन, मंसूरी और कुरैशी पुरुष एक पठान महिला से शादी नहीं कर सकते क्योंकि वे इन जातियों को पठानों से नीचा मानते थे। अशराफ़-अजलाफ़ द्विभाजन पर एक और विवादास्पद पुस्तक जिसका शीर्षक *निहायत अल-अरब फी-घायत अल-नसाब* है, को, दारुल-उलूम, देवबंद के प्रमुख मुफ़्ती मुहम्मद शफ़ी उस्मानी द्वारा लिखा गया था, जो बाद में पाकिस्तान के पहले राज्य मुफ़्ती (मुफ़्ती-ए-आजम) भी बने। उन्होंने कहा कि तथाकथित चार अशराफ़ जातियों को फ़ैसले के दिन ख़ुदा द्वारा विशेष कृपा के साथ देखा जाएगा जबकि अजलाफ़ को उनके क्रोध का सामना करना पड़ेगा। उन्होंने नाइयों, बुनकरों और रँगरेज़ों जैसे समुदायों की निन्दा की क्योंकि उनकी नज़रों में इन समुदायों का व्यक्तिगत विकास और अनैतिकता उनके निम्न व्यवसायों से प्रभावित थी।[29] एक बड़ा विवाद खड़ा हो गया और देवबंद क्षेत्र के बुनकरों ने रैलियों का आयोजन करके उनकी टिप्पणियों का विरोध किया। अन्ततः धमकियों और दबावों के कारण शफ़ी को कुछ समय के लिए दारुल-उलूम के प्रमुख मुफ़्ती के पद से हटना पड़ा।[30]

मौलवी अशरफ़ अली थानवी जो एक प्रमुख देवबंदी विद्वान थे, उन्होंने भी मुस्लिम बुनकरों के बारे में अपमानजनक शब्दों में बात की। अपने ग्रंथ *अल-रफीक फाई स्वाय अल-तारिक* में उन्होंने बुनकरों की प्रार्थना का मज़ाक़ तक उड़ाया। थानवी ने उस्मानी के *निहायत अल-अरब फी-गयात अल-नसाब* के समर्थन में लिखते हुए, एक अन्य पुस्तक, *वास्लूस सबाब फी फसलिन नसाब मा नेहयातुल अरब फी घयतिन नसाब* में, बुनकर जाति को जुलाहों के रूप में सन्दर्भित कर उनके द्वारा ख़ुद को अंसारी (पैग़ंबर के सहायक) बुलाए जाने की निन्दा की। इसके बजाय उन्होंने तर्क दिया कि ऐसा करने पर पाबन्दी थी क्योंकि ऐसा करना पैग़ंबर द्वारा मक्का से हिज़रत कर मदीना जाने पर उनकी मदद करने वाले अंसारों के वंशज होने का ग़लत दावा करके किसी के नसाब या वंश को बदलने जैसा था। थानवी की एक अन्य रचना *मसावत-ए बहार-ए शरीयत* में तर्क दिया गया कि मुसलमानों को जुलाहा

(बुनकर) और नाई (नाइयों) को मुस्लिम घरों में प्रवेश करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। अपने *बहिश्ती जेवर* में, थानवी ने दावा किया कि एक सैयद पिता और एक ग़ैर-सैयद माँ का बेटा सामाजिक रूप से एक सैयद दम्पती की संतान से कमतर है। अपने *इमदाद उल-फ़तवा* में, थानवी ने घोषणा की कि सैयद, शेख़, मुग़ल और पठान सभी 'सम्मानजनक' (शरीफ़) समुदाय थे, और तेल-पेरने वाले (तेली) और बुनकर (जुलाहा) समुदाय 'निम्न' जाति (रजील एक्वाम) थे। उन्होंने दावा किया कि 'नव-मुसलमान', यानी इस्लाम में धर्मान्तरित ग़ैर-अरबों को ख़ानदानी मुसलमानों के साथ विवाह के प्रयोजनों के लिए काफ़ा के लायक़ नहीं माना जा सकता है।[31]

इसी प्रकार ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के पहले अध्यक्ष और देवबंद मदरसे के कुलपति मौलवी कारी मुहम्मद तैयब सिद्दीक़ी भी जातिवाद के समर्थक थे और उन्होंने मुफ़्ती उस्मानी द्वारा जाति के मामले पर लिखी किताब के समर्थन में दो किताबें लिखीं : *अंसब वा कबाइल का तफजुल* और *नसाब और इस्लाम*। देवबंद मदरसे की स्थापना के कई वर्षों बाद भी, ग़ैर-अशराफ़ छात्रों को आम तौर पर प्रवेश नहीं दिया जाता था लेकिन कुछ मामलों में निचली जाति के छात्रों ने अपनी जाति पहचान छुपाकर प्रवेश लिया लेकिन जब भी उनकी जाति की पहचान उजागर होती थी, उन्हें अक्सर अपमानित किया जाता था और मदरसा छोड़ने के लिए मजबूर किया जाता था। शब्बीर अहमद हकीम ने अपनी पुस्तक *हियाकत की हिकायत* में उल्लेख किया है कि एक बार इस तरह के व्यवहार के कारण मालेगाँव के एक तथाकथित निचली जाति के जुलाहा छात्र के नेतृत्व में देवबंद मदरसे में विरोध मार्च हुआ था।[32] बरेली के विद्वान मौलवी सैयद हशमत अली ने तर्क दिया कि भले ही जुलाहा (अंसारी) परिवार के एक विद्वान और धनी व्यक्ति ने सैयद लड़की से शादी की हो, शादी को रद्द कर दिया जाना चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया जाता है तो इस दम्पती से पैदा होने वाली संतान नाजायज़ होगी! बीसवीं सदी के शुरुआती दौर के उर्दू लेखक और इस्लामी सुधार और तब्लीग (मिशन) के एक चैंपियन दिल्ली के ख़्वाजा सैयद हसन निजामी ने उर्दू पत्रिका *मौलवी* में लिखे अपने एक लेख में दावा किया कि अल्लाह ने जुलाहा (अंसारी) को अशराफ़ की सेवा हेतु बनाया था। इस प्रकार भारतीय इस्लामी परम्परा के विद्वानों ने जुलाहों को सामाजिक रूप से वंचित रखने के लिए ज़मीनी वास्तविकताओं को प्रतिध्वनित किया। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में, उच्च जाति के मुस्लिम विद्वानों द्वारा देवबंद और अन्य स्थानों से कई ऐसे 'जुलाहानामा' जारी किए गए थे, जो उनके व्यवसाय और मूल के आधार पर जुलाहा बुनकरों की निम्न स्थिति का दावा करते थे।

अशराफ़ मुसलमानों द्वारा जुलाहों की अधीनता को सही ठहराने वाले इस ज्ञान-प्रवचन का बुनकर समुदाय और उनके समर्थकों ने कड़ा विरोध किया था। जुलाहा समुदाय के विरोध के तरीक़े अलग-अलग थे। कुछ आरोपों का जवाब आज़मगढ़ से जारी *रद्द-ए-जुलाहानामा* द्वारा दिया गया। कोइरियापार, आज़मगढ़ के काज़ी हाफ़िज़ हकीम मुहम्मद अहमद आज??? उस्मानी ने इस अधीनता का विरोध करने के लिए एक नज़्म (उर्दू कविता), 'रद्द-ए-जुलाहानामा' एक उच्च जाति के मुस्लिम के नाम से प्रकाशित कराई थी और इस पुस्तक में मूल रूप से जुलाहा समुदाय द्वारा श्रम की गरिमा स्थापित करने और समय को महत्त्व देने की सराहना की गई थी। इस रचना ने बुनकरों की व्यावसायिक आत्म-स्वतंत्रता और न्याय के प्रति सम्मान भाव की भी प्रशंसा की। मौलाना मुफ़्ती मोहम्मद शफ़ी उस्मानी की अपमानजनक टिप्पणी का प्रतिकार करते हुए एक लेखक ने 1920 के दशक में लिखा

था कि 'हम ख़ुद को अंसारी, वंश या मूल के कारण नहीं बल्कि अपने व्यवसाय के कारण कहते हैं। सामाजिक स्थिति और व्यवसाय के बीच यह सादृश्य इस मायने में महत्त्वपूर्ण है कि सामाजिक सम्मान के दावे को काम की प्रतिष्ठा और गर्व की भावना से जोड़ा जा रहा था। उन्नीसवीं सदी में व्यावसायिक स्थिति में गिरावट और आर्थिक विस्थापन ने जुलाहों के आत्मसम्मान को प्रभावित किया था। अब सामाजिक गतिशीलता के प्रयास भी काम के प्रति दृष्टिकोण को पुनर्गठित करके अपने व्यवसाय में खोई हुई गरिमा को पुनः प्राप्त करने में मदद कर सकते थे। इसलिए *रद्द-ए-जुलाहानामा* श्रम के मूल्य और अर्थ की धारणाओं को फिर से परिभाषित कर रहा था।[33] इसी प्रकार अशराफ़ से विवाह पर प्रतिबंध का खंडन करने के लिए प्रसिद्ध मुस्लिम बुद्धिजीवी मौलाना शिबली नोमानी का मामला उद्धृत किया गया था। नोमानी की माँ जुलाहा परिवार से थीं।[34] बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में, मौलवी अब्दुस सलाम मुबारकपुरी द्वारा सामाजिक पदानुक्रम के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए जुलाहा अंसारियों की ओर से सबसे प्रमुख पहलों में से एक की शुरुआत की गई। अब्दुस सलाम आज़मगढ़ ज़िले के मुबारकपुर के रहने वाले थे और ख़ुदा बख़्श ओरिएंटल लाइब्रेरी, पटना में सहायक लाइब्रेरियन थे। उन्होंने जुलाहा बुनकरों के समुदाय की सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति के बारे में *तारिख-उल-मिनवाल-वल-अहलेही* नामक एक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक ने 'शेख़ नूरबफान' से अपील की कि वे ख़ुद को शेख़ या शेख़ अंसारी या मोमिन अंसारी के रूप में सम्बोधित करें और लिखें क्योंकि 'इतिहास के पहले चरणों में जहालत, यानी अज्ञानता के कारण बुद्धि की प्रगति को अस्वीकार कर दिया गया था लेकिन अब समय आज़ादी का है इसलिए हजरत शेख़-ए-नूरबफान-ए-हिन्द से समाज में प्रगति करने की अपील की जाती है।'[35] यहाँ औपनिवेशिक आधुनिकता का सन्दर्भ उनके लिए मुक्तिदायक प्रतीत होता है। हालाँकि, उच्च जाति के मुसलमानों और उलेमाओं द्वारा उन्हें उनकी टिप्पणियों के लिए बहिष्कृत किए जाने के डर के कारण, अब्दुस सलाम को यह पुस्तक अपने बेटे ओबैदुल्ला मुबारकपुरी के नाम से प्रकाशित करनी पड़ी। इस ऐतिहासिक पुस्तक को पिछड़े वर्गों, विशेष रूप से जुलाहा अंसारी समुदाय के बीच एक आँख खोलने वाला दस्तावेज़ माना गया था।

यही कारण है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि तमाम प्रयासों के बावजूद राजनीति में भी अखिल भारतीय मुस्लिम चेतना मात्र एक मिथक ही रही : *आधा गाँव* में जब एक बुनकर हाजी साहब कहते हैं कि 'हम लोग त जमीयतुल अंसार वाले हैं। हम लोग उसलिम लीग-मुस्लिम लीग को ओट न दे सकते' और पूछते हैं कि, 'का पाकिस्तान में मियां लोग जोलहन से रिस्ता-नाता करे लगिहें।'[36] वह इस बात को रेखांकित करते हैं कि एक व्यक्ति की सामाजिक-राजनैतिक निष्ठा धर्म के अलावा उसकी पहचान के अन्य पहलुओं पर भी आधारित होती है। जाति और लिंग उत्पीड़न और उनकी जटिलताएँ, अवैतनिक बँधुआ मज़दूरी का प्रचलन और वह हिंसा जिसके द्वारा इस तरह के श्रम का शोषण किया जाता है सामाजिक विचारों से कभी दूर नहीं होती है।

यह परचा जातीय पदानुक्रम और ऐतिहासिक अभिलेखों में वर्णित सामाजिक पिछड़ेपन की भावना से उबरकर मुस्लिम बुनकरों के बीच एक सामाजिक अस्मिता की पड़ताल करता है। अंसारी के रूप में आत्म-पहचान का प्रयास और 'परम्परावाद' के पक्ष में विशिष्ट इस्लामीकरण की बढ़ती चेतना, ऐसे ही संघर्षों और प्रतियोगिताओं के उत्पाद थे, फिर भी दोनों स्थितियाँ एक व्यापक ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता का हिस्सा थीं जो सामाजिक स्थिति और सम्मान के लिए संघर्ष के विभिन्न रूपों में अपने को अभिव्यक्त कर रही थीं।

इस प्रक्रिया में जुलाहा बुनकरों ने अपने 'धर्म' और 'समुदाय' दोनों को फिर से संगठित किया और अपमानजनक 'जुलाहा' कहलाने के बजाय अपनी मोमिन (शुद्ध या वफ़ादार) की पहचान पर ज़ोर दिया। इस्लाम के अहल-ए-हदीस रूप का पूर्वांचल की बुनकर बस्तियों में प्रसार हिन्दू धर्म की प्रमुख उपस्थिति के ख़िलाफ़ एक उद्दंड प्रतिक्रिया से अधिक स्थानीय मुस्लिम बुनकरों के संघर्ष और प्रतिस्पर्धा का उत्पाद था। इसने मौजूदा अभिजात वर्ग को विस्थापित करने का प्रयास, सांस्कृतिक अनुकरण की प्रक्रिया से नहीं, बल्कि प्रतिद्वंद्वी सांस्कृतिक चुनौती द्वारा किया। यह बढ़ते हुए 'परम्परावाद' का संकेत नहीं था, क्योंकि तत्कालीन सन्दर्भ में ऐसा दृष्टिकोण ग़ैरपरम्परागत और उत्क्रामी था। साथ ही अंसारियों के 'इस्लामीकरण' को भी संकीर्ण रूप से परिभाषित इस्लाम के स्थान पर, इस मामले में अनिवार्य रूप से 'पश्चिमीकरण' के विरोध के रूप में देखा जाना चाहिए। दोनों ही सामाजिक गतिशीलता की एक ही प्रक्रिया में दो भिन्न चरण हो सकते हैं। साथ ही 'इस्लामीकरण' और 'अंसारीकरण' के बीच टकराव के बारे में कोई भी धारणा बहुत सतर्क होकर बनानी चाहिए। वास्तव में निम्न जाति के बुनकरों द्वारा 'अंसार' जैसे शब्दों के माध्यम से प्रारम्भिक इस्लामी शब्दावली का उपयोग सामाजिक अभिजात वर्ग के बीच तनाव पैदा करने के लिए पर्याप्त था। अरब मूल का दावा और पैग़ंबर की वंशावली के साथ जुड़ाव निर्विरोध नहीं रह सकते थे। यहाँ ऐसे दावों द्वारा इस्लाम द्वारा प्रदत्त समानता के विचार को ऊर्ध्वगामी गतिशीलता प्रदान करने के लिए नई दिशा दी जा रही थी। अरबी शब्दावली का प्रयोग भी सामाजिक स्वीकार्यता प्राप्त करने के लिए भारत में पहले से स्थापित सामाजिक संरचनाओं को तोड़ने का एक प्रयास था। नए पहचान चिह्न एक नए सामाजिक केन्द्र का परिसीमन करते हुए कार्यात्मक सीमाओं के रूप में कार्य करते थे, और उनकी व्याख्या मुस्लिम बुनकरों की पहचान की सार्थक अभिव्यक्तियों को परिभाषित करने के लिए विशिष्ट और विषयगत रूप से की गई थी। यह नव-परम्परावाद था क्योंकि इसने सामुदायिक हितों की रक्षा की, समुदाय की तथाकथित ग़लतियों का निवारण किया, और सम्भावित ख़तरों के मामले में समुदाय की रक्षा की।

उपर्युक्त चर्चा हमें उन ऐतिहासिक अस्मिताओं की श्रेणियों की खोज करने के लिए मजबूर करती है जो 'पारम्परिक' समूहों से परे हैं। ऐसी श्रेणियाँ स्थानीय समूहों की ज़रूरतों और कल्पनाओं की उत्पाद थीं और ऊपर से थोपी नहीं गई थीं। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक, बुनकरों के इस्लाम में धर्मान्तरण से उनके सामाजिक हाशिये की स्थिति समाप्त नहीं हुई। आर्थिक अभाव के साथ-साथ 'अस्पष्ट' सामाजिक स्थिति ने भी बुनकरों को उन्नीसवीं सदी में परम्परागत सामाजिक ढाँचे से बाहर जाकर वहाबी, देवबंदी और बरेलवी फ़िरक़ों के मुस्लिम सुधार आन्दोलनों में अस्मिता की तलाश करने के लिए मजबूर किया। फिर भी विद्यमान पदानुक्रमों के जटिल चरित्र ने अशराफ़ द्वारा प्रदत्त पहचान से अलग अंसारीकरण का एक अलग अनुभव सुनिश्चित किया। वस्तुतः स्थानीय संघर्ष ही कथित इस्लामी परम्पराओं के दावों से भिन्न, ऐसे अनुभवों को 'पहचान' की भौतिक रूप से जमी बहुस्तरीय दुनिया में ले जाने वाली एजेंसी साबित हुए। विशिष्ट मुहावरों, नई भौतिक परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया और परिवर्तन के चुने हुए प्रतीकों ने जुलाहों और अन्य निचले समुदायों को अपनी नवअर्जित अस्मिता की रक्षा करने में सक्षम बनाया। अतः इस ज़मीन पर साहित्यकार की सामाजिक स्मृति और इतिहासकार की दस्तावेज़ी दृष्टि के मायने एक हो जाते हैं।

सन्दर्भ

1. हेडेन ह्वाइट(1973), xii.
2. राही मासूम रज़ा (1989).
3. वही, 95.
4. वही, 219.
5. वही, 56.
6. वही, 244-45.
7. वही, 54,103.
8. वही, 8.
9. वही, 33-34; 49; 110.
10. वही, 18.
11. वही, 27.
12. वही, 57.
13. वही, 86,178-79.
14. वही, 219-223.
15. जमाल मलिक (2012), 202-03.
16. बारबरा डी.मेटकाल्फ (1982), 256.
17. एल.एस.एस.ओ'मैल्ली (1913), 440, 446.
18. जोसेफ ई. श्वार्ट्जबर्ग (1965), 477-95.
19. ई.ए.एच. ब्लंट (1912), 360; विलियम क्रुक (1896), 69-70.
20. ज्ञानेंद्र पांडे(1990), 89.
21. जे.आर.रीड (1881), 147.
22. काज़ी अतहर मुबारकपुरी (1974), 101.
23. मोहम्मद हबीब एंड अफ़सार उमर सलीम ख़ान (1961), 49, 88, 97-99.
24. सैयद अहमद ख़ान (1958), 60.
25. अहमद उस्मानी, उद्धृत, अशफ़ाक़ हुसैन अंसारी (2001), 30.
26. अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी (1957), 792.
27. मुफ़्ती मुस्तफ़ा रज़ा ख़ान बरेलवी(1955), 502.
28. अशरफ़ अली थानवी (दिनांकित नहीं).
29. मुफ़्ती, मुहम्मद शफ़ी उस्मानी (1971), 266-68.
30. आर्थर एफ. ब्यूहलर, (2012), 239.
31. मसूद आलम फलाही (2007), 319, 340.
32. शब्बीर अहमद हकीम (1991), 216.
33. साक्षात्कार, मौलवी कमरुज्जमां, मुबारकपुर, आज़मगढ़, 5 जून, 2007.
34. सैयद सुलेमान नदवी (1943), 61.
35. मौलवी ओबैदुल्लाह रहमानी मुबारकपुरी (2004), 121.
36. राही मासूम रज़ा (1989), 246, 248.

सन्दर्भ ग्रंथ

अशफ़ाक़ हुसैन अंसारी (2000), *मोमिन कॉन्फ्रेंस की दस्तावेज़ी तारीख़,* दिल्ली।

अशफ़ाक़ हुसैन अंसारी (2001), *मुस्लिम आरक्षण का सच* (मुस्लिम आरक्षण के पीछे का सच), गोरखपुर।
अशरफ़ अली थानवी (दिनांकित नहीं), *वासलुस सबाब फाई फासलिन नसाब मा नेहयातुल अरब फाई घायतिन नसब,* सहारनपुर।
अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी (1957) *फ़तवा रिजविया मऊ,* पुनर्मुद्रित, मुबारकपुर, आज़मगढ़, वॉल्यूम 5।
आर्थर एफ. ब्यूहलर, (2012) *ट्रेंड्स ऑफ़ अशरफ़ाइजेशन इन इंडिया,* काजुओ मोरिमोटो (सम्पादक) सैयद्स एंड शरीफ़्स इन मुस्लिम सोसाइटीज : द लिविंग लिंक्स टू द पैग़ंबर, लंदन।
ई.ए.एच. ब्लंट (1912) *भारत की जनगणना, 1911* (आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त), वॉल्यूम XV, भाग I, रिपोर्ट, इलाहाबाद।
एल.एस.एस.ओ'मैल्ली (1913) *भारत की जनगणना 1911,* खंड V, बंगाल, बिहार और उड़ीसा और सिक्किम, रिपोर्ट भाग I, कलकत्ता।
काज़ी अतहर मुबारकपुरी (1974) *तजकिरा-ए-उलेमा-ए-मुबारकपुर,* दायरा मिल्लिया।
जमाल मलिक (2012) *इस्लाम इन साउथ एशिया : ए शॉर्ट हिस्ट्री,* नई दिल्ली।
जे.आर. रीड (1881) *रिपोर्ट्स ऑन द सेटलमेंट ऑपरेशन इन डिस्ट्रिक्ट ऑफ़ आज़मगढ़ : एज आल्सो इन परगना सिकंदरपुर और भदाव,* इलाहाबाद।
जोसेफ ई. श्वाट्र्जबर्ग (1965) 'दि डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ़ सेलेक्टेड कास्ट्स इन द नॉर्थ इंडियन प्लेन', *जियोग्राफ़िकल रिव्यू,* वॉल्यूम 55, (4)।
बारबरा डी. मेटकाफ (1982) *इस्लामिक रिवाइवल इन ब्रिटिश इंडिया : देवबंद 1860-1900,* प्रिंसटन।
मसूद आलम फलाही (2007), *हिन्दुस्तान में जात-पात और मुसलमान,* दिल्ली।
मुफ़्ती मुस्तफ़ा रज़ा ख़ान बरेलवी(1955), *फ़तवा मुस्तफिया मऊ,* पुनर्मुद्रित, बॉम्बे।
मुफ़्ती, मुहम्मद शफी उस्मानी (1971), *निहयात अल अरब फी-घायत अल-नसाब* (1932), पुनर्मुद्रित, दिल्ली।
मोहम्मद हबीब एंड अफ़सार उमर सलीम ख़ान,(1961) द *पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ़ द डेलही सल्तनत* (इन्क्लूडिंग ए ट्रांसलेशन ऑफ़ ज़ियाउद्दीन बरनी'स फ़तवा-ए-जहांदारी, (सिरका 1358-9 ए.डी.), इलाहाबाद।
मौलवी ओबैदुल्लाह रहमानी मुबारकपुरी (2004), *तारिख-उल-मिनवाल-वल-अहलेही,* दूसरा संस्करण, मुबारकपुर।
राही मासूम रज़ा (1989) *आधा गाँव,* नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
शब्बीर अहमद हकीम (1991), *हियाकत की हिकायत,* आरपीटी, मालेगाँव।
सैयद अहमद ख़ान (1958), *असबाब-ए-बगावत-ए-हिन्द* (भारत के विद्रोह के कारण), अलीगढ़।
सैयद सुलेमान नदवी (1943), हयात-ए-शिबली, आज़मगढ़।
हेडेन ह्वाइट(1973), *मेटाहिस्ट्री,* बाल्टीमोर।

बाबा रामचन्द्र : गिरमिट अध्ययन के दुर्लभ स्त्रोत

आशुतोष कुमार

ऐतिहासिक सन्दर्भ

अवध किसान आन्दोलन के एक महत्त्वपूर्ण नेता के रूप में मशहूर बाबा रामचन्द्र एक 'गिरमिटिया' थे जो रोज़गार की तलाश में शर्तबन्दी प्रथा के तहत 1905 में फ़िजी चले गए थे। 1915 में भारत लौटने के बाद बाबा रामचन्द्र ने अपने गिरमिट के अनुभवों के बारे में विस्तार से लिखा। रामचन्द्र के संस्मरण औपनिवेशिक दुनिया में गिरमिट प्रथा के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण स्त्रोत हैं। बाबा रामचन्द्र के अनुभवों को जानने से पहले यहाँ गिरमिट प्रथा अथवा शर्तबन्दी प्रथा के बारे में जानना आवश्यक है।

'शर्तबन्दी प्रथा' के तहत विभिन्न द्वीपों में भारतीय कृषक मज़दूरों का प्रवसन औपनिवेशिक भारत की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। शर्तबन्दी के तहत प्रवसन की शुरुआत 1833 में 'दासप्रथा' के उन्मूलन से उत्पन्न बाग़ान मज़दूरों की कमी को पूरा करने के लिए की गई थी। 'गिरमिट' प्रथा के तहत उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में रोज़ी-रोटी की तलाश में उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के विभिन्न अंचलों से लाखों की तादाद में लोग समुद्र पार के देशों में गए। इस शर्तबन्दी के तहत किसानों को एक क़ानूनी करार करना होता था जिसमें उन्हें कम से कम पाँच वर्ष तक गन्ने के बाग़ानों में काम करना था और बदले में उन्हें बाग़ान मालिकों की तरफ़ से तय मज़दूरी, चिकित्सा सुविधा, आवास तथा न्यूनतम मूल्य पर राशन मिलता था। पाँच वर्ष के क़रार के ख़त्म होने पर भारतीय किसान अपने देश वापस लौट सकते थे। दस वर्ष की अवधि के बाद उन्हें मुफ़्त लौटने की भी सुविधा थी। न लौट पाने की स्थिति में उन्हें उस द्वीप में बस जाने का अधिकार था।[1] औपनिवेशिक सरकार ने भारत में शर्तबन्दी प्रथा को काफ़ी संगठित तौर पर विकसित किया था। यूरोप के बड़े पूँजीवादी बाग़ान मालिकों की कम्पनियों को भारत में मज़दूर भर्ती के लिए लाइसेंस प्रदान किए गए थे जिनके कार्यालय मुख्यत: कलकत्ता एवं मद्रास में थे। इन कम्पनियों द्वारा इन शहरों में 'एजेंट' नियुक्त किए गए थे। यह एजेंट बहुधा भूतपूर्व औपनिवेशिक अधिकारी होते थे जिन्हें एक नियत मासिक वेतन पर नियुक्त किया गया था।

श्रमिकों की भर्ती प्रक्रिया

श्रमिकों की भर्ती के लिए यूरोपीय कम्पनियाँ लाइसेंस प्रदान करती थीं जिसे हासिल कर कोई व्यक्ति समुद्रपार बाग़ानों में काम करने के इच्छुक मज़दूरों की भर्ती कर सकता था। कम्पनी के एजेंट अपने अधीन 'सब-एजेंट' रखते थे जो विभिन्न ज़िलों तथा अंचलों में मज़दूर भर्ती का कार्य करते थे। इन्हें इस कार्य के लिए लाइसेंस दिए गए थे। इस 'सब-एजेंट' के अधीन कई लाइसेंस प्राप्त कर्मचारी होते थे जिन्हें 'रेक्रूटर' कहा जाता था। 'रेक्रूटर' अपने अधीन कई ग़ैर-लाइसेंस प्राप्त कर्मचारी रखते थे जिन्हें लोकप्रिय शब्दावली में 'अरकाटी' कहा जाता था। 'अरकाटी' का मुख्य काम मज़दूर को 'रेक्रूटर' से मिलवाना था। 'अरकाटी' का काम महिला तथा पुरुष दोनों ही करते थे।[2] इस प्रकार भर्ती-प्रक्रिया का एक निश्चित उच्चताक्रम और अधिकार विभाजन काम करता था।

मज़दूरों की भर्ती के लिए 'रेक्रूटर' कई तरीक़े और जुगत अपनाते थे। मूलत: 'रेक्रूटर' गाँव या शहरों में जाकर मज़दूरों की भर्ती करते थे। बाग़ान के काम के इच्छुक मज़दूर को शीघ्र ही नज़दीक के डिपो में ले जाया जाता था। वहाँ उन्हें अच्छा खाना दिया जाता था और इसके लिए उन्हें कोई पैसा नहीं चुकाना होता था। मज़दूर अपने तरीक़े से खाना बनाकर खा सकते थे।

1860 के दशक से पहले जब भारत में रेल की शुरुआत नहीं हुई थी तब मज़दूरों को दूरस्थ गाँवों तथा छोटे शहरों से कलकत्ता या मद्रास के मुख्य डिपो तक ले जाना कठिन काम था। उन्हें लम्बी पैदल यात्राओं द्वारा मुख्य डिपो तक जाना होता था। इस दौरान कई मज़दूर शारीरिक रूप से कमज़ोर हो जाते थे। हालाँकि उन्हें यात्रा के दौरान भात, रोटी, दाल, सब्ज़ी, घी, चटनी, अचार और सत्तू आदि चीज़ें खाने हेतु दी जाती थीं। मुख्य डिपो में पहुँचने के बाद मज़दूरों की डॉक्टरी जाँच की जाती थी। उसके बाद उन्हें मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाता था जहाँ उनसे समुद्रपार बाग़ानों में काम करने हेतु जाने सम्बन्धित सहमति पत्र पर हस्ताक्षर अथवा अँगूठे का निशान लगाना होता था। मजिस्ट्रेट मज़दूरों से नौकरी की शर्तों की जानकारी लेता था और जाने को इच्छुक मज़दूर को अनुमति प्रदान करता था। धोखे अथवा झूठ से लाए गए मज़दूरों के लिए 'रेक्रूटर' को सज़ा तथा हर्ज़ाने का क़ानून था।[3] इस प्रकार सारा काम क़ानूनी होता था।

गिरमिट प्रथा के अध्ययन के स्रोत

इतिहासकारों द्वारा गिरमिट प्रथा का अध्ययन मूलत: औपनिवेशिक अभिलेखागारों के सरकारी संग्रहों और राष्ट्रवादी गाथाओं द्वारा ही किया जाता रहा है। 1833 में दास प्रथा की समाप्ति के बाद शुरू हुई शर्तबन्दी प्रथा को समकालीन दास-विरोधी विद्वानों ने एक नई दासत्व प्रथा की ही शुरुआत माना है।[4] बाद के इतिहासकारों, यथा ह्यूग टिंकर, ने भी दास-मुक्ति आन्दोलन से जुड़े विद्वानों की विवेचनाओं का समर्थन करते हुए गिरमिट प्रथा को दासत्व की एक नई प्रथा का नाम दिया।[5] इन इतिहासकारों ने अपने अध्ययन का स्रोत अभिलेखीय दस्तावेज़ों, गिरमिट विरोधी राष्ट्रवादी आख्यानों तथा आन्दोलनों तथा दास-प्रथा विरोधी पूर्वग्रहों को बनाया है। इन्होंने गिरमिट प्रथा के तहत पूँजीवादी बाग़ानों में काम करने वाले भारतीय मज़दूरों के अपने अनुभवों, उनकी ख़ुद की आवाज़ को महत्ता नहीं दी है जिसके कारण गिरमिट प्रथा का

इतिहास-लेखन निष्पक्ष नहीं हो सका।

यहाँ इसी कमी को पूरा करने तथा गिरमिट प्रथा का वैकल्पिक इतिहास सामने लाने के लिए फ़िजी के बाग़ानों में गिरमिट प्रथा के तहत अपना कार्य पूरा करने वाले अवध किसान नेता बाबा रामचन्द्र के गिरमिट अनुभवों को प्रस्तुत किया गया है। बाबा रामचन्द्र तथा उनकी गिरमिट-स्मृति को जानने से पहले यहाँ यह बताना उचित होगा कि बाबा रामचन्द्र द्वारा लिखी गई उनकी जीवन वृत्ति की पांडुलिपि की खोज काफ़ी दिलचस्प रही है। बाबा रामचन्द्र का ज़िक्र पहली बार जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में किया और बताया कि कैसे बाबा रामचन्द्र नामक साधु ने अवध के किसानों को गोलबन्द किया, उनकी समस्याओं के निराकरण के लिए वे जेल तक गए। जवाहरलाल नेहरू अपनी आत्मकथा में लिखते हैं :

> जहाँ तक मुझे याद है 1920 के जून के शुरुआती दिनों में दो सौ के लगभग किसान प्रतापगढ़ के आन्तरिक इलाक़ों से पचास मील की दूरी तय करके इलाहाबाद शहर पहुँचे थे ताकि प्रभावशाली नेताओं को वे अपनी दु:ख-भरी स्थिति बता सकें। वे रामचन्द्र नाम के एक व्यक्ति के नेतृत्व में आए थे जो कि ख़ुद क्षेत्रीय किसान नहीं था।[6]

वे आगे लिखते हैं : रामचन्द्र पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रान्त का एक व्यक्ति था जो की फ़िजी में अनुबन्धित श्रमिक रह चुका था। लौटने के बाद वह अवध के ज़िलों में आ गया और घूम-घूम कर तुलसीदास की रामायण को सुनाता तथा किसानों की समस्याओं को सुनता। वह कम पढ़ा-लिखा था और कुछ हद तक जोतदारों को अपने फ़ायदे के लिए भुनाया किन्तु उसने किसानों को संगठन की शक्ति से अवगत कराया। उसने किसानों को समय-समय पर सभा करना सिखाया ताकि वे अपनी दिक़्क़तों को बता सकें और इस प्रकार उसने उनमें एकजुटता की भावना भर दी।[7]

फ़िजी के अनुभवों तथा अवध में चल रहे किसान आन्दोलन से जुड़े बाबा रामचन्द्र द्वारा लिखित दस्तावेज़ की पांडुलिपि की खोज इतिहासकार कपिल कुमार ने उस दौरान की जब वे अवध के किसानों पर अपनी पीएच.डी. पूरी करने के लिए 'फील्ड वर्क' कर रहे थे। कपिल कुमार, एस. के. मित्तल[8] तथा माजिद सिद्दीक़ी[9] ने अवध किसान आन्दोलन के अपने शोध में बाबा रामचन्द्र द्वारा लिखी पांडुलिपियों का इस्तेमाल किया। किन्तु इन इतिहासकारों ने बाबा रामचन्द्र के फ़िजी अनुभवों के बारे में सीमित चर्चा की है। बाबा रामचन्द्र द्वारा लिखी पांडुलिपि को आधार बनाकर कमलाकान्त त्रिपाठी ने *बेदख़ल* नामक उपन्यास की रचना ज़रूर की है। इसके अलावा ज्ञानेंद्र पांडेय ने भी अवध के किसानों पर अपने शोध में बाबा रामचन्द्र की पांडुलिपि का सहारा लिया है किन्तु इन लेखकों ने बाबा रामचन्द्र के फ़िजी से सम्बन्धित अनुभवों की चर्चा न के बराबर की है।

बाबा रामचन्द्र का प्रारम्भिक जीवन

बाबा रामचन्द्र अपनी जीवनी में लिखते हैं कि उनका जन्म विक्रम संवत् 1920 अर्थात् 1864 में महाराष्ट्र के ग्वालियर राज के एक छोटे से गाँव में, एक दक्षिण ब्राह्मण ऋग्वेदी देशस्थ के घर में हुआ था। उनका वास्तविक नाम श्रीधर राव था[10] तथा उनके पिता का नाम बलवंत राव था। अपनी सौतेली माता के व्यवहार से क्षुब्ध होकर उन्होंने घर छोड़ दिया और काम

की तलाश में जगह-जगह भटकने लगे। 1905 में शर्तबन्दी के तहत फ़िजी जाने से पहले वे हिन्दुस्तान के बहुत सारे स्थानों पर नौकरी करते हुए 29 वर्ष का जीवन बिता चुके थे। बाबा रामचन्द्र फ़िजी में 10 वर्ष व्यतीत कर 1915 में भारत लौट आए।[11] फ़िजी में रहते हुए बाबा रामचन्द्र ने भारतीय गिरमिटियों की भलाई के लिए बहुत कार्य किए और उसे दर्ज किया। लेखन कला से अवगत होने के कारण गिरमिटिया भाई-बहन इनके पास अक्सर आते थे तथा अपने कष्टों को उनसे कलमबन्द करवाकर या तो अपने घर चिट्ठियों के माध्यम से भेजते थे या कई मौक़ों पर अधिकारियों से शिकायत करने के लिए उनसे अर्ज़ी लिखवाते थे। फ़िजी के अभिलेखागारों में ऐसे बहुत सारे पत्र मुझे प्राप्त हुए जो बाबा रामचन्द्र के हाथों से लिखे गए हैं।

बाबा रामचन्द्र ने फ़िजी में अन्याय के ख़िलाफ़ अनशन तक का सहारा लिया और अपनी माँग पूरा कराने में सफल हुए। उन्होंने कई मौक़ों पर फ़िजी के भारतीय किसानों का नेतृत्व किया और अपने अभियान में सफल भी हुए। बाबा रामचन्द्र ने फ़िजी के भारतीयों को संगठित करने के लिए धर्म का सहारा लिया। रामायण की चौपाइयों के ज्ञाता होने के कारण लोग उन्हें सुनने आते थे और इस प्रकार एक संगठन भी क़ायम हो गया। फलस्वरूप रामलीला तथा भारत विनय विनोदी सभा की स्थापना हुई। बाबा रामचन्द्र ने महाभारत के द्रौपदी चीर-हरण का मंचन किया।[12] किन्तु फ़िजी में बाबा रामचन्द्र द्वारा मंचित द्रौपदी चीर-हरण का मुख्य मक़सद प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेज़ों की मदद के लिए धन इकट्ठा करना था। 5 वर्ष का गिरमिट पूरा करने के बाद बाबा रामचन्द्र ने कई स्थानों पर नौकरी की। वे शीघ्र ही डॉक्टर मणिलाल गांधी तथा सी. एफ. एंड्रूज के सम्पर्क में आए। उन्होंने डॉक्टर मणिलाल गांधी के क्लर्क के रूप में काम भी किया।

पांडुलिपि की विषयवस्तु

बाबा रामचन्द्र द्वारा लिखित पांडुलिपि हमें फ़िजी में भारतीय गिरमिटियों के विभिन्न पक्षों की जानकारी देती है। यह एक ओर जहाँ तोताराम सनाढ्य के फ़िजी वर्णन की सत्यता की जाँच करती है वहीं दूसरी ओर शर्तबन्दी प्रथा तथा उसके तहत कार्य कर रहे भारतीयों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों की भी जानकारी देती है। तोताराम सनाढ्य भी फ़िजी में गिरमिटिया थे और बाबा रामचन्द्र के समय फ़िजी में ही रह रहे थे। तोताराम ने भारत लौटने के बाद एक बेहद चर्चित पुस्तक *फ़िजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष* की रचना की थी जिसको आधार बनाकर भारतीय राष्ट्रवादियों ने गिरमिट प्रथा को ख़त्म कराने का आन्दोलन चलाया और उसे ख़त्म भी कराया।[13] शर्तबन्दी प्रथा के विरोधियों ने यह आरोप लगाया कि भारतीय किसान-मज़दूरों को बलात्, बन्धक बनाकर, फरेब द्वारा झाँसे में लाकर समद्र-पार के बाग़ानों में दासता के लिए भेजा गया। भारतीय मज़दूर इस बात से अवगत नहीं थे कि वे कहाँ जा रहे हैं, काम की परिस्थितियाँ क्या हैं?[14] शर्तबन्दी प्रथा विरोधी भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन का मुख्य आधार भी भारत में फरेब तथा जालसाज़ी को बताया गया। किन्तु बृजलाल ने भी प्रवसन सम्बन्धी आँकड़ों के संख्यात्मक विश्लेषण से स्पष्ट किया है कि फ़िजी जाने वाले पचास प्रतिशत उत्तर भारतीयों का रजिस्ट्रेशन उनके गृह ज़िले की बजाय दूसरे ज़िले में पाया गया था जिसका तात्पर्य है कि वे पहले से ही काम की तलाश में घर छोड़ चुके थे।[15] बाबा रामचन्द्र की पांडुलिपि स्पष्ट करती है कि फ़िजी जाने वाले भारतीय

पहले से ही नौकरी की तलाश में भटकते लोग थे और उन्हें बलात् फ़िजी नहीं भेजा गया था।[16] हालाँकि रामचन्द्र एक स्थान पर यह कहते हुए मालूम पड़ते हैं कि अरकाटी ने उन्हें बेवकूफ़ बनाया और इस तरह उसने कई स्त्री-पुरुषों को फाँस कर रखा था किन्तु अगले ही पल वे स्पष्ट करते हैं कि ब्राह्मण होने के कारण जब उन्हें फ़िजी जाने से रोक दिया गया तब उन्होंने अपने नाम तथा जाति को बदल दिया और इस प्रकार वो फ़िजी जा सके।[17] यहाँ ग़ौर करने वाली बात है कि टापुओं में रोज़गार पाने हेतु उच्च जातियों ने अपनी जाति तथा पेशे को बदला। बाबा रामचन्द्र के अलावा तोताराम सनाढ्य ने भी अपनी जाति ब्राह्मण की बजाय क्षत्रिय बताई और इस प्रकार ही वे फ़िजी जा सके। उच्च जातियों द्वारा अपनी जाति में बदलाव कर प्रवसन में जाने की इस घटना से यह स्पष्ट होता है कि प्रवसन के सन्दर्भ में जाति सम्बन्धी आँकड़े सन्देहास्पद रहे हैं। बृजलाल ने स्पष्ट किया है कि यह आम धारणा कि प्रवसन में सिर्फ़ निचली जातियों ने भाग लिया, ग़लत है। दुनिया के विभिन्न औपनिवेशिक बाग़ानों में मज़दूर के रूप में कार्य करने के लिए भारत की सभी जातियों ने प्रवसन किया।[18]

बाबा रामचन्द्र की पांडुलिपि से हमें बाग़ानी व्यवस्था के अधीन भारतीयों की सामाजिक स्थिति का पता चलता है। उन्होंने लिखा है कि :

> फ़िजी भाषा में ईश्वर को कलउ व मनुष्यों को कुली—कुली शब्द का अर्थ उनकी भाषा में कुत्ते का होता है। फ़िजी में जाने वाले भारतवासी ठीक कुत्तों की दशा में ही अपने जीवन को पूरा करते हैं। सब की जाति एक मनुष्यता की रहती है। वह किसी भी जाति का कोई मनुष्य हो वह ब्रह्ममय जगत के तुल्य बन जाता है, अस्पृश्यता का लेश तक उसमें नहीं रह जाता।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि टापुओं में भारतीयों को निम्न दर्जे का इनसान समझा गया किन्तु भारतीय वर्णव्यवस्था के विपरीत बाग़ानी व्यवस्था ने भारतीय जाति-व्यवस्था के ऊँच-नीच तथा भेदभाव को ख़त्म कर दिया था। इस सन्दर्भ में बृजलाल ने ठीक ही कहा है कि 'अनेक प्रवासियों के लिए, शर्तबन्ध मज़दूरी,अनेक कठिनाइयों के बावजूद, भारत में, उनकी दशा से, बेहतर थी। यह बात, मुख्य रूप से, निम्न वर्गों के लिए सत्य साबित हुई। उन्हें सदैव भारत के ग्रामीण समाज के बाह्य किनारों पर ही रखा जाता था—अछूतों, पट्टेदारों या भूमिविहीन कृषकों के रूप में।'[19]

प्रवसन में जा रही स्त्रियों के सम्बन्ध में बाबा रामचन्द्र ने लिखा है कि उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है। महिला चिकित्सकों की अनुपलब्धता में पुरुष चिकित्सकों द्वारा स्त्रियों का उत्पीड़न आम घटना रही होगी। बाबा रामचन्द्र लिखते हैं : डॉक्टरी करते समय बड़े-बड़े दृश्य देखने में आते हैं, स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती है। बाबा रामचन्द्र के अनुसार टापुओं में पहुँचने के बाद बाग़ान मालिक द्वारा मनमाने ढंग से गिरमिटियों को चुनकर अपने-अपने बाग़ानों में मज़दूर के रूप में ले जाते थे। इस प्रक्रिया में परिवार तथा स्त्री-पुरुष के रिश्तों का ख़याल नहीं रखा गया जिससे कई परिवारों के सदस्यों को एक-दूसरे से बिछड़ना पड़ा। बाबा रामचन्द्र लिखते हैं :

> अच्छे-अच्छे जानवरों को जैसे छाँटते हैं वैसे ही अच्छे हट्टे-कट्टे कुली व उनकी औरतों को छाँटते हैं, उस समय इसकी औरत उसको और उसकी औरत इसको होना पड़ता है।

बाबा रामचन्द्र ने फ़िजी में भारतीय स्त्रियों की स्थिति की चर्चा करते हुए लिखा है कि एक ओर जहाँ उन्हें खेतों में काम करना पड़ता था, वहीं सुन्दर स्त्रियों का शारीरिक शोषण भी किया जाता था। गर्भवती स्त्रियों को सन्तान उत्पत्ति तक कार्य करना पड़ता था। बाबा रामचन्द्र लिखते हैं :

> स्त्रियों के विषय में इतना ही कहना है कि सुन्दर स्त्रियों को एकान्त में काम देकर गोरे और काले दोनों भोग-विलास करते हैं। गर्भवती स्त्रियों को बराबर सन्तान उत्पत्ति तक काम करना पड़ता है—न करने पर यहाँ तक क्रिया की जाती है कि गर्भपतन तक हो जाता है।

बाबा रामचन्द्र ने देवकाली नामक एक स्त्री का ज़िक्र किया है जिसे हंसराज नामक व्यक्ति ने नौकरी दिलाने के नाम पर बहला-फुसला कर क़ैद कर लिया और उसका शोषण करने का प्रयास किया। अंग्रेज़ी में लिखा पत्र इस प्रकार है :

andno skill any thing
then I live my cloth
night time I no ask him
mother or sister my cloth
Take it room or not
that is [illegible] wednesday
nearly morning I sho
that wire our cloth no stop
to wire then I no saw mo
or sister I think my sist
Take it in the room
[illegible] night [illegible]
Hansraj home

then you told any man cloth or
jevelery I bring the my house.
my cloth sho this bundal Slop in the
bundal in one white print Lahga or 1 one women
coat black sirteen or one women coat Red
print or 1 one white print or 1 one urkni
its all I told to Hansraj [illegible]
[illegible] my mother [illegible]
then hit [illegible] heard the I [illegible]
[illegible]
any body come I hit the heard [illegible]
men kiling or me die then take you
I am small girl Hansraj big
I never do any thing both I am
very fear then no cry not tell him
body. Hansraj told me long time sleap
or both me I told Hansraj that
you kil him me I no like sleap
your right I see you no you sleap
Hansraj give me one sugar bag I sleap
in the room he sleap up the ba
to night I don't know wh
[illegible]
my neck and stop my [illegible]

Hansraj told me anybody come I hit the heard or two three men kiling or me die then take you. Sir, I am small girl Hansraj big of man, I never do anything both, I am very fear then no cry not tell him anybody. Hansraj told me long time sleap night or both me I told Hansraj that is mater you kill him me I no like sleap by your right...

... I come my home, Hansraj told me I kan give your cloth anyone...Sir, Hansraj told me yet not come back again I comeing

your house kil him brother or mother then take you. Sir my father die my mother my sister small. Sum time my mother go away look after the working man my groung cane, or anything not stop all time man in house. Sir, no stop any man my house then Hansraj come in my ground or any away do sum thing bad then I report by you...

देवकाली के ख़त का विश्लेषण करते हुए रोहिणी ने बाग़ानों में स्त्रियों की स्थिति के दो महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डाला है। पहला, बाग़ानों में भारतीय स्त्रियों का शोषण हर कोई कर रहा था। दूसरा, अनपढ़ मज़दूरों तथा बाग़ान अधिकारियों के बीच किसी भी तरह के झगड़े में मज़दूरों के साथ भेदभाव किया जाता था। इस प्रकार रोहिणी के अनुसार स्त्रियों के मामले में स्थिति और बदतर थी क्योंकि पढ़ी-लिखी दुनिया के सामने उनका टिक पाना असम्भव था।[20]

बाबा रामचन्द्र ने स्त्रियों के कारण होने वाली विभिन्न समस्याओं को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

> ...स्त्रियों की कमी होने से ज़रा हेरफेर में पड़ने से जीवनमुक्त हो जाना पड़ा है।
>
> ...फ़िजी के मजूरों की कमाई स्त्रियों के चाँदी सोने के जेवर और कपड़े रेशमी खाने-पीने में अशनाइयों के झगड़ों के कारन गोर वकीलों की काफ़ी आमदनी होती है।
>
> ...एक स्त्री को कई पुरुष रख सकते हैं। बिगड़ने पर फोजदारी भी कर सकते हैं।

एक ओर जहाँ औपनिवेशिक बाग़ानों में भारतीय स्त्रियों की दयनीय स्थिति के प्रमाण बाबा रामचन्द्र प्रस्तुत करते हैं वहीं बाग़ानों में पितृसत्ता का पतन और स्त्रियों के अपनी मर्ज़ी से साथी चुनने की स्वतंत्रता का भारतीय मर्दों द्वारा विरोध भी देखने को मिलता है। बाग़ानों में मर्दों द्वारा की जाने वाली ख़ुदकुशी के लिए स्त्रियों को ही ज़िम्मेदार माना गया। भारतीय गिरमिटियों द्वारा फ़िजी के गवर्नर को लिखा गया ख़त इसका प्रमाण है जिसमें अर्ज़ किया गया है कि सरकार कोई ऐसा क़ानून बनाए ताकि एक स्त्री अपने पति को कभी भी छोड़कर न जा सके[21] :

सूवा फ़िजी
तारीख़ २५ मं:न व्रत १४

श्री मान
सर एरन्स्त : विकहाम स्वीट स्काट, के.सी.एम.जी.

महाशय जी,

आप से हमारा अर्ज़ हा की जितने आदमियों को फाँसी होती है सो क्यों होता है? जितना नुकसान होता है सब औरत के कारण होता है। हम लोगों के पास औरत 10 पाँच वर्ष रहकर जब गहन बहना बना के दिया तो ले कर के दुसरे के पास चली जाती है। सो आप मेहरबानी करके ऐसा कोई क़ानून बनाओ की एक औरत जिसके पास रहे उसी के यहाँ रहै। जिससे हम लोगों को नुकसान न हो। और जो गहना माँगो

तो जेहल जाना पड़ता है। आगे हम क्या लिखे हमारे बात पर आप ही ख्याल करके देख लिजीये। क्यों की आप ही हमारे माता-पिता हैं और आप ही ख्याल करने वाले हो। दुसरा नहीं।

आपका एक
सेवक

रामभरोस महाराज
बकतावर सिंह
इमामदिन
जुधन
बालदेव राय
मोहन सुनार

उपर्युक्त ख़त से स्पष्ट होता है कि बाग़ानों में मर्दों द्वारा की जाने वाली हिंसा या ख़ुदकुशी के लिए स्त्रियों को ज़िम्मेदार बताया गया। औपनिवेशिक सरकार तथा भारतीय राष्ट्रवादियों ने भी बाग़ानों में ख़ुदकुशी तथा हत्या के लिए औरतों की पतिता, कामपीड़ा (सेक्सुअल जैलिसि) तथा स्त्रियों की कमी को ज़िम्मेदार बताया।[22] मार्क्सवादी इतिहासकार प्रभु मोहापात्र ने बाग़ानों में स्त्रियों की हत्या के लिए कठोर जीवन पर आधारित 'बाग़ान शासन' को ज़िम्मेदार बताया है जिसने गिरमिटियों के जीवन के हर पहलू को नियंत्रित करके रखा। साथ ही उसने पुरुषों को जहाँ बड़े तेज़ धार वाले खेती के औजार दिए, वहीं औरतों को ऐसे औजारों से वंचित किया जिसके कारण पुरुषों द्वारा आक्रमण के समय औरतें अपना बचाव कर सकने में असफल रहीं।[23] इतिहासकार बृजलाल का मानना है कि इसमें कोई शक नहीं है कि कुछ औरतें पतित रही होंगी परन्तु कामपीड़ा इस समस्या का लक्षण मात्र था, न कि कारण, जोकि कुली प्रथा पर थोपा गया है। मूल कारण था सामाजिक व्यवस्था का विघटन। जीवन में आदमी जिस ख़ातिर जीता है वह है—कुटुम्ब-परिवार, रिश्ते-नाते, भाई-बिरादर, शादी-ब्याह, रीति-रिवाज़ और तीज-त्योहार न कि मात्र कामपीड़ा।[24]

वास्तव में औपनिवेशिक बाग़ानों में हत्या तथा ख़ुदकुशी आदि का मुख्य कारण पितृसत्ता का पतन था जहा स्त्रियाँ पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध स्वतंत्र जीवन जी रही थीं। बाग़ानी व्यवस्था ने एक ऐसे समाज को जन्म दिया था जहाँ स्त्रियाँ अपनी मर्ज़ी से अपने साथी का चुनाव कर सकती थीं और अपने क़ानूनी पति से तलाक़ के लिए स्वतंत्र थीं। बाग़ानी व्यवस्था ने शादी-ब्याह के मामले में जाति और धर्म से जुड़ी बाधाओं को तोड़ दिया था और स्त्री-पुरुष की आपसी पसन्द ही शादी का मुख्य आधार था। इन्हीं स्वच्छंदताओं के कारण बाबा रामचन्द्र जैसे ब्राह्मण ने एक निम्न जातीय चमार स्त्री से विवाह किया और दस वर्ष की अवधि पूरी करने के बाद भारत लौटते समय अपनी स्त्री को तलाक़ देकर वापस आ गए।[25] औपनिवेशिक बाग़ानों में स्वछंद जीवन का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए बाबा रामचन्द्र ने अपने विवाहेतर सम्बन्धों की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि जब उन्हें एक मजिस्ट्रेट के घर काम पर लगाया गया तो वहाँ वे उसकी दो बेटियों के साथ रंगरलियाँ मनाया करते थे। रामचन्द्र स्वयं लिखते हैं :

लड़कियाँ नवयौवना थीं। वह अपने कटाक्ष चक्षुओं से अपने वशीभूत करने के

लिए कई प्रकार के चरित्र किया करती थीं : कभी-कभी नदी स्नान के लिए जातीं तो साबुन वग़ैरह साथ ले जाना पड़ता था। वहाँ उनके साथ पानी में कूदना पड़ता था। वे घंटों इसी में बिताती थीं।

बाबा रामचन्द्र के अनुसार मजिस्ट्रेट की इन्हीं दोनों लड़कियों ने उनकी शादी एक सुन्दर चमार स्त्री से फ़िजी के रिवाज से अपने मजिस्ट्रेट पिता द्वारा करवा दी थी ताकि उस स्त्री की आड़ में ये लड़कियाँ उनके घर आ-जा सकें। रामचन्द्र आगे लिखते हैं :

इस स्त्री के बहाने से ए दोनों लड़कियाँ मेरे धन मन हरण को मेरे पास आने जाने लगीं।

बाबा रामचन्द्र ने फ़िजी में भारतीय धर्मों के गुरुओं की चर्चा करते हुए बताया है कि यह धार्मिक गुरु अपनी श्रेष्ठता व प्रभाव के कारण अपने चेलों की स्त्रियों सहित अन्य स्त्रियों को बहुधा बहका ले जाते थे या उनके साथ आलिंगन में कोई अनर्थ नहीं देखते थे। रामचन्द्र लिखते हैं :

गुरु और चेलों का राज्य है। गुरु चेलों में अन्तर नहीं—गुरु चेले की स्त्रियों में भी अन्तर नहीं।[26]

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में भारत में हो रहे धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव से प्रवासी भारतीय भी नहीं बच सके। फलत: आर्य समाज सहित विभिन्न भारतीय धर्मों के प्रतिनिधि प्रवासी भारतीयों के बीच धर्मरक्षक के रूप में गए। फ़िजी में भी आर्य समाज सहित हिन्दू धर्म के विभिन्न प्रतिनिधियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। बाबा रामचन्द्र के अनुसार आर्य समाज के आने से पहले फ़िजी में जाति और धर्म का कोई झगड़ा नहीं था किन्तु आर्य समाज के आने के बाद दोनों समुदायों में तनाव आने शुरू हो गए। बाबा रामचन्द्र लिखते हैं :

इस देश में जात-पाँत व मज़हब वगैरा का कुछ झगड़ा नहीं था—परन्तु राम मनोहरानन्द स्वामी को आर्य समाज हिन्दुस्तान में भेजा था तब से वह के लोगों में सनसनी सी फैली रहती थी—पहिले से कुछ लोगों ने आर्य समाज का काम शुरू कर रखा था।

बाबा रामचन्द्र के लेखन से पता चलता है कि बाग़ानों में यद्यपि भारतीय गिरमिटियों के साथ अन्याय सामान्य बात थी किन्तु भारतीय किसान अपने हक़ के लिए आन्दोलन करने से भी पीछे नहीं हटे। बाबा रामचन्द्र ने फ़िजी के भारतीय गिरमिटियों और किसानों के हितों के लिए ख़ुद आगे-आगे होकर काम किया। उनके कृषक-नेता-जीवन की शुरुआत फ़िजी में ही हो चुकी थी। उन्होंने लिखा है कि किस तरह उनके नेतृत्व में भारतीय केला किसानों को एक अंग्रेज़ हाकिम से मुआवज़ा वसूल पाने में सफलता मिली।

फ़िजी में बाबा रामचन्द्र द्वारा किए जाने वाले राजनीतिक आन्दोलनों के कारण ही उन्हें फ़िजी से भारत लौटना पड़ा। फ़िजी के बाग़ान मालिकों को रामचन्द्र एक रोड़ा दिख रहे थे। फलत: उन्हें फ़िजी से वापस भारत आने के लिए मजबूर कर दिया गया।

बाबा रामचन्द्र की पांडुलिपि गिरमिट के इतिहास-लेखन के लिए एक महत्त्वपूर्ण

दस्तावेज़ है। यद्यपि रामचन्द्र द्वारा यह संस्मरण उनके भारत लौटने के 21 वर्षों बाद लिखा गया, जब वे अवध के एक बड़े किसान नेता के रूप में उभर चुके थे और फलतः उनके संस्मरण में कुछ तब्दीलियाँ अवश्य आई होंगी किन्तु फिर भी गिरमिटियों के वैकल्पिक इतिहास-लेखन के लिए उनकी यह पांडुलिपि एक दुर्लभ स्रोत है।

सन्दर्भ

1. इक़रारनामा की शर्तों के लिए देखिए, फ़ाइल संख्या RA-341, नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ मॉरिशस (बंगला भाषा में हस्तलिखित शर्तें जो पहली बार 1834 में दर्ज की गई), CO-323/732 नेशनल आर्काइब्स ऑफ़ लन्दन (हिन्दी में), CO-323 नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ लन्दन (उर्दू में); इसके अलावा देखिए बृज बी. लाल (1983)।
2. ग्रियर्सन (1883).
3. वही
4. जॉन स्कोबल, विलियम गारलैंड बार्रेट, जोसेफ़ बिउमोंत आदि की इंडेंचर पर लिखे गए लेख और रचनाएँ।
5. ह्यूग टिंकर (1974).
6. जवाहरलाल नेहरू (1941), 56.
7. वही, 57.
8. एस.के. मित्तल तथा कपिल कुमार (1978), *बाबा रामचन्द्र एंड पेसेंट अपसर्ज इन अवध,* 1920-21, *सोशल साइंटिस्ट,* भाग 6, अंक 11 (जून), 35-36.
9. एम.एच. सिद्दीक़ी (1978).
10. एस. के. मित्तल तथा कपिल कुमार ने उनका पूरा नाम श्रीधर बलवन्त पुरवरकर बताया है। देखिए— उपर्युक्त, पृ. 37.
11. एस.के. मित्तल तथा कपिल कुमार ने अपने लेख में बताया है कि बाबा रामचन्द्र तेरह वर्षों तक फ़िजी में रहे किन्तु बाबा रामचन्द्र की पांडुलिपि से पता चलता है कि वो 1915 में भारत लौट आए। देखिए—उपर्युक्त, पृ. 37।
12. एस. के. मित्तल तथा कपिल कुमार ने लिखा है कि बाबा रामचन्द्र ने फ़िजी में 'रामलीला' का मंचन किया किन्तु बाबा रामचन्द्र की पांडुलिपि में रामायण के मंचन के बारे में स्पष्ट तौर पर कुछ नहीं कहा गया है किन्तु महाभारत के कुंती चीरहरण के मंचन का स्पष्ट ज़िक्र किया गया है। देखिए— उपर्युक्त, पृ. 37।
13. तोताराम सनाढ्य (1916); बृज बी. लाल, आशुतोष कुमार, योगेन्द्र यादव (2012).
14. देखिए एंटी-स्लेवरी समर्थकों यथा जॉन स्कोबल, विलियम गारलैंड बार्रेट, जोसेफ़ बिउमोंत आदि की इंडेंचर पर लिखे गए लेख और रचनाएँ; इसके अलावा देखें ह्यूग टिंकर, ए न्यू सिस्टम ऑफ़ स्लेवरी।
15. वही
16. बृज बी. लाल, *चलो जहाज़ी.*
17. बृज बी. लाल, आशुतोष कुमार, योगेन्द्र यादव (2012)। तोताराम सनाढ्य के इमिग्रेशन पास पर उनकी जाति ठाकुर लिखी हुई है।
18. बृज बी. लाल, *गिरमिटिया,* ऊपर उद्धृत।
19. बृज बी. लाल (2005), 8.
20. रोहिणी (2003), 79.
21. CSO MP 10385/14, नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ फ़िजी, सूवा।
22. औपनिवेशिक सरकार ने इस समस्या से निपटने के लिए एक लम्बी बहस के बाद यह क़ानून बनाया कि हर बेड़े के पर 100 मर्दों के साथ 40 औरतें जाएँगी। सी.एफ. एंड्रूज तथा पियर्सन ने भारतीय राष्ट्रवादियों की ओर से अपनी रिपोर्ट में फ़िजी के बाग़ानों में ख़ुदकुशी तथा हत्या के लिए सेक्सुअल जैलिसि को ही ज़िम्मेदार बताया है, सी. एफ. एंड्रूज तथा पियर्सन (1916), 72।
23. प्रभु मोहपात्रा (1995), 260.

24. बृज लाल, *चलो जहाज़ी*, 218.
25. बाबा रामचन्द्र गर्व से लिखते हैं कि "मैं—महाराष्ट्र कुल में दक्षिणी ब्राह्मण ऋग्वेदी देशस्थ के घर पैदा हुआ हूँ...महाराष्ट्र कुल के रहन-सहन से संसार में कौन ऐसे लोग हैं जो नहीं जानते होंगे।"
26. बाबा रामचन्द्र के समकालीन गिरमिटिया तोताराम सनाढ्य ने भी ऐसी अनेक घटनाओं का ज़िक्र किया है जब धार्मिक गुरु अपने शिष्य की स्त्री को बहका ले जाने में सफल रहा। देखिए—बृज बी. लाल, आशुतोष कुमार, योगेन्द्र यादव (सं.), *भूतलेन की कथा*, उपर्युक्त वर्णित।

सहायक ग्रंथ

अभिलेखागार आधारित सामग्री

नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ मॉरिशस, फ़ाइल संख्या RA-341.
नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ फ़िजी, सूवा, फ़ाइल संख्या *CSO MP* 10385/14.
नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ लन्दन (हिन्दी में), फ़ाइल संख्या CO—323/732.
नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ लन्दन (उर्दू में), फ़ाइल संख्या CO—323.

पुस्तकें :

एस.के. मित्तल तथा कपिल कुमार (1978), *बाबा रामचन्द्र एंड पेसेंट अपसर्ज इन अवध*, 1920-21, सोसल साइंटिस्ट,भाग 6, अंक 11 (जून)।

एम.एच. सिद्दीक़ी (1978), *अग्ररियन अनरेस्ट इन नार्थ इंडिया : द यूनाइटेड प्रोविंस*, 1918-22, नई दिल्ली।

जवाहरलाल नेहरू (1941), *टूवड्र्स फ्रीडम : ऐन ऑटोबायोग्राफ़ी ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू, द जॉन डे कम्पनी।*

तोताराम सनाढ्य (1916), *फ़िजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष*, कानपुर।

प्रभु मोहपात्रा (1995) *रिस्टोरिंग द फेमिली : वाइफ़ मर्डर्स एंड द मेकिंग ऑफ़ सेक्सुअल कॉन्ट्रैक्ट फॉर इंडियन इमीग्रैंट इन द ब्रिटिश कैरिबियन कॉलोनीज, 1860-1920, स्टडीज इन हिस्ट्री*, अगस्त।

बृज बी. लाल (तिथिविहीन), *चलो जहाज़ी : आन ए जर्नी थ्रो इंडेंचर इन फ़िजी*, कैनबेरा।

बृज बी. लाल, आशुतोष कुमार, योगेन्द्र यादव (2012), सम्पादक, *भूतलेन की कथा : गिरमिट के अनुभव*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

बृज बी. लाल (2005), *फ़िजी यात्रा : आधी रात से आगे*, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली।

रोहिणी (2003), *बाबा रामचन्द्र : एन इंट्री पॉइंट ऑफ़ रूरल वीमेन ऑफ़ अवध, सतनामी एंड छत्तीसगढ़,* अप्रकाशित एम. फिल. शोध प्रबन्ध, इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

सी. एफ. एंड्रूज एंड पियर्शन (1916), *रिपोर्ट ऑन इंडेंचर्ड लेबर इन फ़िजी : एन इंडिपेंडेंट इन्क्वायरी*, इलाहाबाद।

ह्यूग टिंकर (1974), *ए न्यू सिस्टम ऑफ़ स्लेवरी, द एक्सपोर्ट ऑफ़ इंडियन लेबर ओवरसीज*, लन्दन।

बदलता क्षेत्र, सिमटता परिवेश और संघर्षरत प्रजाति : ऊँट का इतिहास

मनीषा चौधरी

ऊँटों का पालन-पोषण शुष्क पर्यावरण में होना एक सामान्य प्रक्रिया है। थार मरुस्थल में एकल-कूबड़ वाले ऊँटों का प्रचलन मध्यकालीन युग में हुआ। इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि भारतीय परिसीमा में ऊँटों का अस्तित्व इसके पहले नहीं था। दो कूबड़ वाले बैक्ट्रियन ऊँट मरुस्थल का अभिन्न अंग थे। प्रणय लाल ने अपने काम में दर्शाया है कि भीमकाय स्तनपायी जानवर 'परसराथेरियम' भी ऊँट के समान दिखाई देता था।[1] इसका पता 1908 में बलूचिस्तान की बुग्ती पहाड़ियों में लगाया गया था।[2] अपनी पूर्णाकृति में यह स्तनपायी आज के ऊँट से बहुत मिलता-जुलता था तथा इसके शरीर की वक्राकृति इसे ऊँट का एक क़रीबी रिश्तेदार बनाती है। गद्देदार तथा तिकोनी आकृति के पैर दोनों प्रजातियों के बहुत क़रीब होने की तरफ़ इशारा करते हैं। यह स्तनपायी पूँछ, पृष्ठ भाग, मध्य-भाग तथा गर्दन से नीलगाय जैसा दिखाई पड़ता है। इतनी समानता के होते हुए भी ऊँट और नीलगाय के समानान्तर किसी जीव के बारे में सोचना आसान नहीं है क्योंकि दोनों अलग-अलग प्रजातियाँ हैं।

मोहनजोदड़ो की खुदाई के दौरान उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तीय भागों में ऊँट की उत्पत्ति के कई प्रमाण मिलते हैं। रिचर्ड एच. मीडो ने सम्पूर्ण हड्डी के ढाँचे को परखने के उपरान्त इस बात को सत्यापित किया कि यह एक पालतू बैक्ट्रियन क्रिस्म से सम्बन्ध रखता है। ड्रामेडरी आज दक्षिण एशिया का घरेलू ऊँट है। हालाँकि, अतीत में ऐसा नहीं रहा है। शिवालिक समूह से बरामद ऊँट की हड्डियाँ मध्य प्लीस्टोसीन की समकालीन हैं।[3] मध्य प्लीस्टोसीन के समकालीन दो प्रकार के ऊँटों की प्रजातियों को पहचाना गया है : 'कमेलुस अंटिकुस' और 'कमेलुस सिवालेंसिस'। हो सकता है कि उपमहाद्वीप के शुष्क क्षेत्रों में होलीसीन युग में इन नस्लों के वंशज रहे हों। वे शायद बच गए हों, हालाँकि वर्तमान में इसे साबित करने के लिए कोई जीवाश्म या उपजीवाश्म उपलब्ध नहीं है। कालक्रम और हमारी जानकारी के अनुसार दक्षिण एशिया के अगले ऊँट हड़प्पा काल में थे। ऊँट के अवशेषों के नमूने, जन्तु वैज्ञानिक सेवल, प्रसाद और नाथ द्वारा हड़प्पा से और थापर और लाल द्वारा कालीबंगा से

रिपोर्ट किए गए हैं। विशेष रूप से कालीबंगा से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर हड़प्पा काल के दौरान सिंधु घाटी के आसपास ऊँट/ बैक्ट्रियन ऊँट की उपस्थिति पर सन्देह करना सम्भव नहीं है। सिंधु घाटी के पश्चिम में *कैमेलस बैक्ट्रियन्स* का विस्तृत उपयोग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से और ईरानी सीस्तान में तीसरी शताब्दी के मध्य से मौजूद था, जिसे हड्डी आकृति विज्ञान, हड्डियों, गोबर और बालों के विवरण और पुरातात्त्विक निष्कर्ष के माध्यम से जाना गया है। दूसरी और पहली शताब्दी ईसा पूर्व के जमावों से प्राप्त मूर्तियों के अनुसार, दो-कूबड़ ऊँट की निरन्तरता पीरक घाटी में दिखाई देती है। ऐसे संकेत मिलते हैं कि पीरक के लोग ऊँटों से परिचित थे जिन्हें वे भार उठाने और गाड़ियाँ खींचने के लिए इस्तेमाल करते थे और शायद सवारी भी करते थे।[4] सिंधु सभ्यता के आसपास के विभिन्न स्थलों पर कई अलग-अलग जीवों के अवशेष दो-कूबड़ ऊँट की उपस्थिति को इंगित करते हैं।[5] मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, शोर्टुगाई और हड़प्पा में पाए गए अस्थि-अवशेष इंगित करते हैं कि हड़प्पा निवासी ऊँट से परिचित थे। यह कहना भी मुश्किल है कि ऊँटों को हड़प्पावासियों द्वारा पाला और पालतू बनाया गया था। सम्भावना अधिक है कि सिंधु घाटी में इस्तेमाल किए जाने वाले ऊँट मुख्य रूप से दो-कूबड़ वाले रहे हों क्योंकि समकालीन समय में अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और अन्य मध्य-एशियाई क्षेत्रों में दो-कूबड़ ऊँटों का उपयोग बहुत अधिक था। मध्य-एशियाई बस्तियों और अरब देशों के साथ व्यापार के आदान-प्रदान के कारण सिंधु घाटी में इस जानवर के उपयोग की शुरुआत हुई। हड़प्पा मुहरों पर ऊँटों को चित्रित नहीं किया गया है और टेराकोटा की मूर्तियों से भी ऊँटों का चित्रण पूरी तरह से ग़ायब है। इसलिए यह प्रस्तावित किया जा सकता है कि सिंधु घाटी के निवासियों के लिए ऊँटों का एक भिन्न प्रकार का सांस्कृतिक और आर्थिक महत्त्व था। इसके विपरीत, मध्य-एशिया के हिस्से में ऊँट की विस्तृत मूर्तियों की उपस्थिति स्पष्ट रूप से परिवहन गतिविधियों के लिए ऊँटों के उपयोग को इंगित करती है।

दोनों चचेरे जानवरों (बैक्ट्रियन और ड्रोमडेरी) के बीच शारीरिक अन्तर साफ़ तौर से दो अलग-अलग प्रजातियों को इंगित करता है। उनके बीच सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर है, कूबड़ का आकार और उसकी भूमिका जिसने दोनों को पहचानने में मदद की है। भुखमरी का शिकार होने पर बैक्ट्रियन ऊँट का कूबड़ तेज़ी से सपाट हो जाता है जबकि ड्रोमेडरी की लोचदार त्वचा धीमे तौर पर कूबड़ के आकार के ह्रास का कारण बनती है। ऊँट के साथ किया गया प्रयोग मूलत: एक-कूबड़ वाली प्रजाति तक सीमित रहा है, और यह दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि दो-कूबड़ का निर्जलीकरण और उच्च तापमान से निपटने के लिए अनुकूलन, अपने चचेरे भाई की तुलना में कितना समीप है, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। ऊँट प्रजनकों और इसे पालनेवालों, भार ढोनेवाले समूहों की पारम्परिक मान्यताएँ परिस्थितिजन्य साक्ष्यों पर बल देती हैं कि एक-कूबड़ ऊँट, ठंड या नम जलवायु में पनप नहीं सकता है और न ही दो-कूबड़ ऊँट बेहद गर्म जलवायु में। इससे पता चलता है कि उपर्युक्त शारीरिक अन्तर दो प्रजातियों के भौगोलिक वितरण को प्रभावित करने के लिए पर्याप्त हैं।[6] यह तर्क एक बँधे-बँधाए ढर्रे की तरह दिखता है। भारतीय मरुस्थल के ड्रोमेडरी को सर्द और गर्म मौसम दोनों का ही अत्यधिक सामना करना पड़ता है क्योंकि थार रेगिस्तान का तापमान माइनस पाँच डिग्री और पचास डिग्री सेल्सियस के बीच रहता है। पर्यटन के लिए मुम्बई और आन्ध्र प्रदेश के समुद्र-तटों पर इस्तेमाल किए जाने वाले ऊँटों में स्पष्ट रूप से आर्द्रता का बुरा प्रभाव देखने को मिलता है। तापमान के बड़े बदलाव में समायोजित होने की ड्रोमेडरीज की क्षमता उल्लेखनीय है। स्थानीय चरवाह और ऊँट मालिक इस अद्वितीय अनुकूलन के लिए

इस पशु की शारीरिक विशेषताओं पर ज़ोर देते हैं। ऊँट गुर्दे में पानी को फिर से जीवंत करने की अनूठी क्षमता के साथ और शरीर पर फर की परत से पसीने को कम करके निर्जलीकरण का मुक़ाबला करने में सक्षम है। इस अनूठी विशेषता के कारण पानी के नियमित सेवन के बिना ऊँट अधिक समय तक चलते रहते हैं। मोटी सतह के साथ गद्देदार पैर वे अंग हैं जो गर्म रेत के ख़िलाफ़ एक ढाल बनते हैं। उरोस्थि के ऊपर एक मोटी गद्दी जिसे पेडस्टल कहा जाता है, शरीर को ज़मीन से ऊपर उठाती है जिससे ड्रोमेडरी के बैठने की स्थिति में हवा शरीर के नीचे से गुज़रती है। इसी तरह, तीव्र ठंडी लहरों के दौरान, शरीर के ऊपर की मोटी ऊन पशु को सुरक्षा प्रदान करती है। मुँह में एक मोटी चमड़े की परत उन्हें काँटेदार रेगिस्तानी पौधों को चबाने में सक्षम बनाती है। आँखों के ऊपर लम्बे बाल रेत से सुरक्षा देते हैं। इस प्रकार, ड्रोमेडरी मौसम की स्थिति के हिसाब से अपने-आप को अनुकूल बनाने के लिए अच्छी तरह से प्रशिक्षित है। ऊँटों के पास रेगिस्तान की वनस्पति का उपभोग करने की एक उल्लेखनीय क्षमता है, यह लाल मांस प्रोटीन और अन्य महत्त्वपूर्ण पोषक तत्त्वों में बदल जाता है जो ऊँटों के लिए आवश्यक है।

रिचर्ड बुलियट कहते हैं कि पहली सहस्राब्दी ईस्वी के अन्त तक दक्षिण-एशियाई महाद्वीप में ड्रोमेडरी का कोई ख़ास महत्त्व नहीं था।[7] ऊँट दक्षिण अफ्रीका का स्वदेशी है और वहीं पर यह रेगिस्तान की दुर्लभ वनस्पति पर जीवित रहने के लिए अनुकूलित हुआ। यह पहली बार दक्षिण अरब में दिखाई दिया, यहाँ से यह अन्ततः उत्तरी अफ्रीका में फैला और बाद में इसका विस्तार मध्य-पूर्वी दुनिया के अन्य हिस्सों में 3000 और 2500 ईसा पूर्व के बीच कहीं से शुरू हुआ। ऊँट के प्रवास और प्रसार पर शोधकार्य विधिपूर्वक किया गया है। एकमात्र शिकारी (मनुष्य) से होने वाले ख़तरे के कारण अरब में ऊँट विलुप्त हो गया, यह धारणा फिर से एक अतिरंजित बयान है जिसकी पुष्टि नहीं हुई है।[8] सोमालिया में अरब ऊँट के आसपास दिलचस्प घटनाक्रम दिखाई देते थे, यहाँ इन पर सवारी नहीं की जाती। सूडान और सहारा क्षेत्रों में ऊँट की सवारी के लिए बनाई गई विभिन्न प्रकार की काठियों की उपलब्धता एक स्पष्ट संकेत है कि इन क्षेत्रों में ऊँट का उपयोग वाहन के रूप में किया जाता था। इसी प्रकार, इन स्थलाकृतियों में इस जानवर के लिए विभिन्न उपचार, विभिन्न विश्वास प्रणालियों के संकेत भी हैं जो समकालीन समय में काम में लाए गए थे। यहाँ मक्का[9] में प्रचलित बद्दू घुमन्तुओं के द्वारा ऊँटों के इस्तेमाल का विचार बहुत ही सटीक लगता है। पवित्र शहरों—मक्का और मदीना—की तीर्थयात्रा करने के लिए बड़े यातायात के प्रवाह ने वाहन के रूप में ऊँटों के उपयोग की माँग पैदा की। तीर्थयात्रियों की लगातार बढ़ती संख्या के कारण बद्दू समुदाय ने तीर्थयात्रा परिवहन के पेशे को अपना लिया। वे हज़ यात्रियों के लिए गाइड, भोजन और चारा आपूर्तिकर्ता के रूप में काम करते थे। 1920 तक अरब रेगिस्तानों में कुशल और परिवहन का एकमात्र साधन होने के नाते, ऊँट को व्यापारियों और कारवाँ द्वारा भी पसन्द किया गया। ऊँटों को यात्रियों को बेचा और किराए पर दिया जाता था।[10] बद्दू समूह बन्दरगाहों, बाज़ारों और रेगिस्तान के बीच नियमित रूप से कार्यरत रहते थे, जो ऊँटों के झुंड को बनाए रखने के साथ, जंगली फल और अन्य उपभोग्य वस्तुओं की बिक्री करते थे। कुवैत में तेल की खोज के कारण अत्यधिक विशिष्ट रेगिस्तानी जानवर ऊँट विस्थापित हो गए। 1950 के दशक के मध्य तक, मोटरचालित परिवहन और राजमार्गों ने, परिवहन के एकमात्र साधन को बदलना शुरू कर दिया था, क्योंकि ऊँट द्वारा चालीस दिनों में पूरी की जाने वाली मक्का की यात्रा को कार द्वारा केवल छह दिन लगते थे।[11] कुवैत में बद्दू देहाती

लोगों पर तेल के प्रभाव, उनके रेगिस्तान का उपयोग, और इसके पर्यावरणीय प्रभावों को समझना दिलचस्प है।[12] तेल की खोज और ऑटोमोबाइल की शुरुआत ने निश्चित रूप से इन प्राणियों के जीवन में भी घुसपैठ की। मोटर-चालित वाहनों द्वारा प्राप्त दक्षता ने शिकार को आसान बना दिया और इससे वन्यजीवों और पक्षी-जीवन पर भारी असर पड़ा।[13] 1950 के दशक में, अंज़ाह समुदाय के पास लगभग दस लाख ऊँट हुआ करते थे और 1998 में पूरे कुवैत में केवल नौ हज़ार ऊँट बचे थे।[14] ऊँटों की संख्या में यह भारी गिरावट चिन्ताजनक थी। यह बदलाव स्पष्ट रूप से उन संकटों को सामने लाता है जो नई खोजों की शुरुआत के कारण निवासियों और जीवों द्वारा झेली गई थी।

दो-कूबड़ वाले ऊँट और ड्रोमेडरीज के बीच शारीरिक अन्तर प्रत्यक्ष और बहुत से हैं जिनके कारण उन्हें क्रमशः ठंडी नम जलवायु और गर्म-शुष्क मौसम की स्थिति के लिए उपयुक्त हो पाए। इन भेदों ने दोनों जानवरों को अलग-अलग पहचान दी और ड्रोमेडरी को सबसे अधिक विशिष्ट रेगिस्तानी पशु के रूप में पहचान दी। इसी कारण ऊँट धन और प्रतिष्ठा का प्रतीक भी बना। ऊँट की मामूली और कम भूसे की ज़रूरतों ने इसे आर्थिक रूप से किफ़ायती बना दिया। ऊँट की थोड़े पानी पर जीवित रहने की अद्वितीय क्षमता, खारे पानी, विरल चरागाहों और रेगिस्तानी वनस्पति को पौष्टिक दूध में बदलने की क्षमता उल्लेखनीय है और यह किसी भी अन्य पालतू जानवर से परे ऊँट को विशिष्ट बनाती है।

अन्त में शारीरिक पक्ष। ऊँट का प्रजनन चक्र एक वर्ष में एक-बार दो-से-तीन महीने की अवधि के दौरान सबसे अच्छी चराई के मौसम और बारह-से-तेरह महीने के गर्भकाल के दौरान नर-प्रजनन अवधि द्वारा नियंत्रित होता है। प्रजनन-चक्र की अवधि कैसे निर्धारित होती है, यह ज्ञात नहीं है, लेकिन प्रजनन हमेशा बरसात के मौसम में होता है, और चूँकि ऊँट आर्द्र जलवायु में अच्छी तरह से प्रजनन नहीं करता है, इसलिए आर्द्रता के स्तर के साथ इसके कुछ सम्बन्ध होने का संकेत दिया गया है। प्रजनन चक्र की शुरुआत का सटीक कारण जो भी हो, लेकिन जो पशु मौसमी वर्षा के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में स्थानान्तरित हो जाते हैं, जहाँ एक अलग मौसम में वर्षा होती है, लगभग पूरी तरह से उनकी प्रजनन प्रक्रिया बाधित हो जाती है।[15] ऊँटों के प्रजनन के इन नियमों को थार-रेगिस्तान के ऊँट चरवाहों तथा प्रजनकों द्वारा भी दर्ज किया गया है। सम्भोग के लिए उन्मुख ऊँट गले में उपस्थित *डुल्ला* (एक बड़ी फूली थैली) मुँह से बाहर फेंकता है। स्थानीय लोग, इसे *ऊँट मस्ती आना* या *तफादा-बगाना* (थैली बाहर फेंकना) भी कहते हैं। ये प्रजनन उतावलेपन का संकेत देता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि ऊँट का प्रजनन एवं बछड़े (टोल्डयो) का जन्म एक अनोखी घटना है जिसे कई भौतिक स्थितियों और पर्यावरणीय कारकों के समर्थन की आवश्यकता होती है। ऊँट प्रजनकों ने परिपक्व समय के विनिर्देश करने के संयोग के बारे में बताया है कि ऊँटों में प्रजनन एक नियमित घटना नहीं है। ऊँट-बछड़े का जन्म एक विशेष घटना है, जिसे उत्सव-शृंखला द्वारा मनाया जाता है। यह उत्सव ऊँटनी के इर्द-गिर्द केन्द्रित होता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि ऊँटनियों के साथ सम्भोग करने के लिए चुनिंदा ऊँटों को नहीं रखा जाता, जैसाकि खुर वाले जानवरों गोजातीय (बैल व भैंसा) और घोड़ों (स्टालियन/स्टड) में होता है।

थार रेगिस्तान में, बच्चे के जन्म के आसपास कई समारोह होते हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, समारोह की अवधि ऊँटनी की गर्भावस्था के दौरान से ऊँट-बछड़े के जन्म तक होती है। ऊँटनी के जीवन के इस विशेष चरण में आयोजित समारोहों ने उसे एक ऐसे पायदान पर रखा है जो उसे एक गर्भवती महिला के समकक्ष लाकर खड़ा करते

हैं। ड्रोमेडरी की गर्भ अवधि 15 महीने होती है जबकि बैक्ट्रियन ऊँट के लिए यह 13 महीने है। राजस्थान में, महिलाओं की गर्भावस्था और बाल-जन्म के आसपास होने वाले समारोह हैं : गोद-भराई, मासो, आवल-गड़ाई, नाहवन, कुआँ-पुजाबो, जापा-माह और गीत। इनमें से गोद-भराई, और मासो पूर्व-जन्म समारोह हैं, जिसमें गर्भवती महिला को अपने मायके और ससुराल से उपहार मिलते हैं। आमतौर पर, इन अवसरों पर आशीर्वाद पाने के लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं। इस आयोजन में गर्भवती को चुनरी और कई अन्य विशेष और पौष्टिक खाद्य पदार्थों से सुशोभित किया जाता है। आवल-गड़ाई, सूतक, नहवान, कुआँ-पुजाबो, मेहँदी-बिनी, जापा-माह और गीत, जन्म के बाद के अनुष्ठान-उत्सव हैं। बच्चे के जन्मदिवस से एक महीने तक जाप-माह का पालन किया जाता है। इस दौरान जच्चा को पूर्ण आराम और पुनरुद्धार के लिए भीतर ही रखा जाता है, और विशेष पूरक भोजन दिए जाते हैं। विशेष भोजन में घी, सोंठ, अजवाईन, मेथी, लौद और सुपारी का समावेश होता है। इन सामग्रियों से तैयार किए गए खाद्य पदार्थ मुख्य रूप से गर्भाशय की प्राकृतिक सफ़ाई के लिए होते हैं और साथ ही दूध की मात्रा को बढ़ाने तथा इसकी गुणवत्ता में सुधार में मददगार होते हैं। इन सभी समारोहों को पवित्र माना जाता है और पूर्णभाव से ऊँटनी के प्रजनन चक्र के आसपास मनाया जाता है। ऊँटनी को विशेष भोज भी दिए जाते है क्योंकि वह 11 से 18 महीने तक स्तनपान कराती है, जोकि अन्य जानवरों की तुलना में अधिक लम्बा समय है। ऊँटनी के प्रति यह स्नेह और प्रेम-व्यवहार, इस जानवर और इसके प्रजनन-चक्र से जुड़े मानवीय सम्बन्ध और जानवर के उनके जीवन में महत्त्व को दर्शाता है। इस प्रकार प्यार और देखभाल का एक मज़बूत भावनात्मक बन्धन इस पशु और उसके मालिक के बीच पनपता है। निश्चित रूप से मनुष्य का पशु के प्रति यह व्यवहार थार रेगिस्तान की कठोर पर्यावरणीय परिस्थितियों में ऊँट की आवश्यकता और आर्थिक महत्त्व के कारण है क्योंकि वह एक चलायमान धन है।

अक्सर पारम्परिक समाजों में, मनुष्य और उनके जानवरों के बीच अन्तरंग और अद्वितीय सम्बन्धों को कहानियों और कविताओं के माध्यम से प्रकट किया जाता है। थार रेगिस्तान भी कथाओं और गीतों से सराबोर है। थार के निवासी किसी भी एक धर्म, सम्प्रदाय अथवा पंथ का पालन नहीं कर रहे थे। वे हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक सीमाओं से ऊपर उठकर स्वतंत्र रूप से एक दूसरे की मान्यताओं को एकीकृत करते रहे हैं। इसी कारण, इतिहास में कई लोक देवता और पंथ प्रचलित हुए और यहाँ रहने वाले समुदायों ने इनकी सराहना की और उन्हें उदारतापूर्वक अपनाया। लगभग सभी लोक-देवताओं के उद्भव के उद्देश्य का मुख्य घटक पशु-धन की रक्षा करना था। इस श्रेणी में पाबूजी, गोगाजी पीर, तेजाजी, रामदेवजी पीर, मल्लिनाथजी, देवनारायणजी, हरभूजी, माँगलिया मेहाजी, मामदेवजी, इलोजी, तिलिनाथजी, भोमियाजी आदि थार-रेगिस्तान के लोकप्रिय देवता हैं। इनमें से पाबूजी, हरबूजी, माँगलिया मेहाजी, रामदेवजी और गोगाजी पंच-पीर (पाँच स्वामी) के रूप में अधिक लोकप्रिय हैं। एक स्थानीय कहावत—*पाबू, हडबु, रामदे, मंगालिया मेहा; पंचो पीर पधारो, गोगाजी जेहा*—इस जुड़ाव को इंगित करती है। दिलचस्प बात यह है कि ये सभी पीर 1100-1500 शताब्दियों के बीच मौजूद थे और ये मध्ययुगीन सदियों में ही देवताओं के रूप में स्थापित हुए।[16] मूलत: ये महाकाव्य-नायक हैं। हिन्दू और इस्लाम दोनों संस्कृतियों के कृषि-समुदाय, इन सम्प्रदायों के अनुयायी हैं। इनमें से कुछ देवताओं की पूजा मुख्य रूप से उनकी करामाती शक्ति के लिए की जाती है और ये सभी पशु-रक्षक हैं। 'कृषि की शुरुआत और जुताई के समय किसानों के बीच गुगाजी/ गुगा पीर का नाम जपना एक महत्त्वपूर्ण समारोह बन गया'।[17]

इन देवताओं के बारे में ध्यान देने वाली दिलचस्प विशेषता है इनकी सवारियाँ। रेगिस्तानी लोमड़ी पर चलने वाले हरबूजी को छोड़कर उपर्युक्त सभी लोक-देवता घोड़ों पर सवार हैं।[18] खुश्क और विशाल रेगिस्तान में स्थानीय देवताओं के जीवन में घोड़े के उपयोग और ऊँट की पूर्ण अनुपस्थिति उल्लेखनीय है। केवल घोड़ों को सवारी के लिए काम में लेना किससे प्रेरित था? क्या सामाजिक दर्जे को बयाँ करने के लिए घोड़ों के उपयोग को बढ़ावा दिया गया? न ही कोई राजपूत-शासक ऊँट-सवार के रूप में चित्रित किया गया है। वाहन (देशी वातावरण से) के रूप में ऊँट की पूर्ण अनुपस्थिति एक ऐसी स्थिति है जो गम्भीर विश्लेषण की माँग करती है। क्या यह इसलिए था कि ऊँट खानाबदोशों से सम्बन्धित था? या यह ऊँट के साथ प्रतिनिधित्ववादी लालित्य (रंग/आकार/शैली) की अनुपस्थिति के कारण था क्योंकि लालित्य, राजशाही और आध्यात्मिकता को चित्रित करने के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व था।

इन लोक-देवताओं के आसपास की लोककथाएँ और क़िस्से भी ऊँट के उपयोगों के बारे में चुप हैं। एकमात्र अपवाद *ढोला-मारू कथा* है। इसमें नायक ढोला अपनी प्रेयसी मारू, जो पुग्गल, बीकानेर के पास रहती थी, से मिलने के लिए तेज़ गति से चलने वाले ऊँट की सवारी करता है। ढोला-मारू का *ख़्याल* (नाटक) ऊँट को बुद्धि, वीरता, विश्वास, शान्ति, सहिष्णुता और समझदारी के भंडार के रूप में दर्शाता है। ढोला-मारू के छत्तीसगढ़ संस्करण में, कराहा नामक एक ऊँट विवाह-उपहार के रूप में प्रस्तुत किया गया था और उसने प्रेमियों के बीच एक दूत की भूमिका निभाई। ऊँट की ईमानदारी और बुद्धिमत्ता दोनों संस्करणों में परिलक्षित एवं सराहनीय है। मुग़ल बादशाह अकबर ने इसी तरह का अवलोकन किया था, जब उन्हें काबुल शहर में इस उम्मीद से भेजा गया था कि वह वहाँ आध्यात्मिक और लौकिक सम्प्रभुता के तरीक़ों का अभ्यास कर सकेगा।[19] इस कार्यकाल के दौरान, अकबर ऊँट के बारे में लगातार चिन्तन कर रहा था। उनकी बातचीत और टिप्पणियों को उसके इतिहासकार मित्र ने दर्ज किया है—अद्भुत प्राणी है ऊँट...वे मनोरंजन की आड़ में, ऊँटों की अजीब क़द-काठी और तरीक़ों का निरीक्षण और चिन्तन करते थे, जो उस क्षेत्र का सबसे बड़ा जानवर था। उस जीव की दरवेश-जैसी जीवन-शैली पर गम्भीर चिन्तन करते समय अकबर उनके धैर्य; पूर्ण समर्पण, पूर्ण आज्ञाकारिता आदि को उजागर करता है—भले ही इनकी डोर एक बच्चे के हाथ में दे दो, ये काँटे खाकर भी सन्तुष्ट रहते हैं, और इनमें प्यास को सहन करने की अद्भुत शक्ति है।[20] जब अधिक शराब और अफीम सेवन के कारण जहाँगीर बीमार पड़ा तो इलाज के लिए एक ईरानी ऊँटनी के दूध का उपयोग किया गया। अपने अनुभव को परिभाषित करते हुए वह लिखता है : 'अन्य ऊँटों के दूध के विपरीत, जो नमकीन स्वाद से रहित नहीं है, यह मेरे स्वाद को मीठा और स्वादिष्ट लग रहा है, और पिछले एक महीने से मैं प्रतिदिन एक कप, आधे पानी के प्याले के बराबर मात्रा में पी रहा हूँ। और यह स्पष्ट रूप से लाभप्रद है, क्योंकि यह मेरी प्यास बुझाता है।'[21] सम्राट की गूढ़ भावना ने उसे अन्य ऊँटनियों के आहार पर अपने प्रयोगों का विस्तार करने के लिए प्रेरित किया। इन घटनाओं से पता चलता है कि ऊँटों के साथ मुग़लों का जुड़ाव बहुआयामी और बहुत नियमित था।

बबूल, ख़ैर और जावा की शाखाओं (जिनमें लम्बे, कठोर और तेज़ काँटे होते हैं) को जीभ से खींचने की ऊँट की क्षमता, और स्पष्टता के साथ उनका दोहन करने को देखकर कर्नल टॉड हैरान थे और इसलिए उन्होंने ऊँट को 'सुप्रीम कलाकार' कहा।[22] इस प्रकार, यह माना जा सकता है कि मालिकों, सवारों और रेगिस्तान के निवासियों में ऊँट के लिए

अतुलनीय प्रेम और अपार श्रद्धा थी। ऊँट की बोझा ढोने की क्षमता और रेगिस्तान (नियमित खाद्य उत्पादन से रहित क्षेत्र) में पोषण (दूध) के स्रोत प्रदान करने की दक्षता के कारण ऊँट को यह दर्जा प्राप्त था।

कहावतों में जानवर

चौदहवीं शताब्दी के बाद, ऊँट स्थानीय कहावतों और साहित्य में लगातार दर्ज हुए हैं। ऊँटों के झुंडों को टोला कहा जाता है। ऊँट के आसपास प्रचलित कुछ स्थानीय कहावतें नीचे उल्लिखित हैं :

काल कुसम्म म ना मरे, बाहमन बकरी ऊँट,
वो माँग वो फिरै चरै, को सुखा चाणा ठुठ।[23]

सूखे के दौरान ब्राह्मण, बकरी और ऊँट की मृत्यु नहीं होती है, ब्राह्मण भिक्षा माँग कर, बकरियाँ घूम-घूम कर चर लेती हैं और ऊँट सूखी टहनियाँ खाकर ज़िन्दा रह लेते हैं।

ये ऊँट सारे ले लिया बाकरा, केसर सारे भाग
ये चन्दी सारे ले तिया बनबा, सोनो सारे लावो टाँग।[24]

ये ऊँट, बकरे (चाँदी) के बीच में सोने की तरह दिखते हैं, इस पूरी चाँदी को बाँध दिया जाएगा, बस पूरे सोने (ऊँट) को इकट्ठा करके ले जाएँ।

ऐसा था पदम कवर, करने का लट्का
हिक हिक कवि को, सौमपिया, कटहला कटका।[25]

ओह! पदम कवर, तुम ऐसा नाची कि प्रत्येक कवि को एक भूरे रंग का ऊँट मिला, जो कमल की तरह है। ध्यातव्य है कि इस जगह ऊँट को सबसे क़ीमती उपहार के रूप में दर्शाया गया है, जो उत्कृष्ट प्रदर्शन के लिए दरबार से सम्मानित करने हेतु दिया गया था।

सो शानड सो करहल, पूत निपूत होए;
मेवडला भुता भला, होनी सो होई।

सौ मादा ऊँटों की क़ुर्बानी दी जा सकती है, बेटों की मौत हो सकती है; कुछ भी हो लेकिन बारिश ज़रूर होनी चाहिए। इस कहावत में ऊँट का महत्त्व पुत्र के समान है लेकिन बारिश के लिए निवासी उनका बलिदान करने को तैयार है।

नैंसी ने युद्ध में ऊँट के इस्तेमाल की पुष्टि की है।[26] ऊँट के आसपास विकसित होने वाली विशाल संस्कृति इसके सामाजिक और आर्थिक महत्त्व को दर्शाती है। रेगिस्तान में रह पाने की अपार क्षमता और उपयोगिता ने ऊँट को विशेष और मूल्यवान बना दिया था। भारत के पर्यावरणीय इतिहास में बाघ, शेर, हाथी, चीता, आदि पर काफ़ी शोध हुआ है लेकिन शुष्क जलवायु के जीवों के रूप में वर्गीकृत मवेशियों को अभी तक इतिहास में उनका स्थान नहीं मिला है।

जैसे मध्यकाल में घोड़े को गति के लिए इस्तेमाल किया गया था, वैसे ही ऊँट का उपयोग तेज़ परिवहन के एक साधन के रूप में किया गया था। ऊँट के उपयोग के विषय में

सल्तनतकालीन ग्रंथ मौन हैं। हालाँकि, परिवहन के साधन के रूप में ऊँट के उपयोग के बारे में मुग़ल दरबार का साहित्य समृद्ध है। हुमायूँ की किताबें जो क़िबकाक लड़ाई में खो गई थीं, कंधार के अधिग्रहण के बाद, लूट के रूप में सफलतापूर्वक पुन: प्राप्त कर ली गई थीं, यह किताबें दो ऊँटों पर सही हालत में बक्से में पाई गईं। इस घटना को दर्ज करते हुए अबुल फ़ज़्ल लिखते हैं : 'इस ख़ुशी के समय में दो ऊँटों को, बक्सों से लदे और बिना किसी सवार के युद्ध के मैदान में देखा गया। इन्हें देख बादशाह ने कहा, 'हर कोई अपनी लूट का माल ले रहा है, मेरे लिए इन दो ऊँटों को छोड़ दो! वे ख़ुद गए और उनकी नकेल को पकड़ते हुए उन्होंने आदेश दिया कि उन्हें (ऊँटों को) घुटने के बल बैठाया जाए और बक्से खोले जाएँ, ताकि वह देख सकें कि उनके अन्दर क्या है। सुन्दर संयोग से यह पाया गया कि विशेष, शाही किताबें जो कि क़िबकाक की लड़ाई में खो गई थीं, इनमें थीं।'[27] बादशाह अकबर ने भी इस विनम्र और तेज़ जानवर की पीठ पर सवारी की। 23 अगस्त, 1573 ई. को गुजरात जाने के लिए मुग़ल बादशाह ने एक तेज़ और शान्त तरीक़े से चलने वाली ऊँटनी पर सवारी की।[28] सवार ऊँटनी और उसकी तेज़ गति की प्रशंसा और गुणवत्ता को स्वीकार करते हुए अबुल फ़ज़्ल लिखते हैं : 'एक तीर से तेज़ गतिमान ऊँट।' इस ऊँटनी का नाम जमजा था और उसे कमान-गर्दनी, धनुषाकार गर्दन वाली कहा गया।[29] ऊँट सैन्य इकाइयों का अभिन्न अंग थे।[30] जयपुर राजा के विभिन्न कार्यभारों में तैनात अधिकारियों के साथ ऊँटवाहिनी भी जाती थी। उज्जैन, शाहजहाँनाबाद और अकबराबाद में उनके रखरखाव से सम्बन्धित साक्ष्य भी उपलब्ध हैं।[31] लुटेरे, परिहार राजकुमार जगन्नाथ (मंडोर) के पाँच सौ ऊँटों को जैसलमेर थल में खदेड़ ले गए थे।[32]

सभी मध्ययुगीन राज्यों के सैन्य विभागों में जानवरों का उपयोग एक लोकप्रिय और आवश्यक परम्परा थी। अधिकांश मध्ययुगीन राज्यों ने हाथियों, ऊँटों और घोड़ों के अस्तबल बना रखे थे। ऊँटों के रखरखाव के कारख़ाने को *शुतुरखाना* कहा जाता था और कई बार इसे ऊँट-घर के नाम से भी जाना जाता था। यह विभाग ऊँटों के प्रजनन और रखरखाव के लिए भी ज़िम्मेदार था। जयपुर-अम्बर राज्य के *शुतुरखाना* में नामांकन के लिए पसन्द की जाने वाली नस्लें थीं : बुग्दी, कच्छी, घिल्जाई, बलौची और देसी। ऊँटसवार को ऊँटी भी कहा जाता था। '*ऊँटचढ़िया चकरी करै*' से पता चलता है कि कई लोग ऊँटसवारों के रूप में राज्य-सेवा में कार्यरत थे। ऊँटसवार के रूप में राज्य-सेवा में कार्यरत जेतो माहर को गाँव खाल्तसर (परगना पोखरण) आवंटित किया गया था।[33] सोहड़ गोलकु माधावत भी '*ऊँट चढयो चाकरी करे* (राज्य-सेवा ऊँट-चालक थे)'।[34] बीकानेर के क्षेत्र में ऊँटों का इस्तेमाल टिड्डी उड़ाने के लिए भी किया गया था।[35] मारवाड़ के दंधल दुर्गदास, ऊँट पर लादकर नमक ले जाते थे और मेवाड़ में बेचते थे, और वापसी में खाने-योग्य अनाज लाते थे।[36] अम्बर राज्य में, ऊँटों की देखभाल करने और अभियानों के दौरान उन्हें हाँकने के लिए सरबन को नियुक्त किया जाता था।[37]

रेबारी ऊँट-प्रजनक थे और बाद में वे 'ऊँट-सवारी दूत'[38] और 'डाकिया'[39] के रूप में कार्यरत हुए। *हुकुमत री बही* की कई प्रविष्टियाँ इसकी पुष्टि करती हैं। बही ये भी स्पष्ट करती है कि रायकासो को, सन्देश लाने और युद्ध के मैदानों में शहीद हुए राजकुमारों की पगड़ी लाने के लिए पुरस्कृत किया जाता था। सेना में ऊँट की सेवाएँ आमतौर पर *शुतुरखाना हुजूरी* के अधीन थीं। इस विभाग के दो मुख्य खंड थे—*शुतुरखाना नफ़र* (ऊँटों की देखभाल करने वालों से सम्बन्धित व्यय) और *शुतुरखाना रख्त* (ऊँट पर व्यय)।

रेगिस्तान में ऊँट की उपयोगिता और इस पशु के आसपास डर की अनुपस्थिति के कारण कम्पनी के अधिकारियों ने भी इसकी प्रशंसा की। शिकार और निशानेबाज़ी ने 19वीं शताब्दी[40] में जो तबाही बड़ी बिल्लियों, विशाल जानवरों, छोटे मांसाहारी झुंड-जीवों और विषैले सरीसृपों पर मचाई थी, उसके प्रभाव से ऊँट और बैल बचे रहे क्योंकि यह स्वभाव से शान्त थे और सशक्त परिवहन के साधन थे। बैल अर्थव्यवस्था और सेना के लिए अहम थे।[41] *राजपूताना गजेटियर* में, रेगिस्तान के राज्यों के ऊँटों को उनकी विशेषताओं, लक्षणों और क्षमताओं के अनुसार वर्गीकृत किया गया।[42] जयपुर-अम्बर साम्राज्य में, कच्छी नस्ल के ऊँटों को सबसे अच्छा माना जाता था।[43] जबकि, देसी नस्ल के ऊँट स्थानीय लोगों के पसन्दीदा थे।[44] बीकानेर के ऊँट भारत में सबसे अच्छे, सबसे तेज़ और सुन्दर हैं। मारवाड़ के ऊँट अधिक सहनशील और स्थायी हैं, लेकिन गति में पूर्व के बराबर नहीं। जैसलमेरी ऊँट गहरे रंग का, छोटा और बदसूरत जानवर है, पर बहुत ही विनम्र और अपनी गति में किसी भी नस्ल में सबसे सुगन है।'[45] इसके अलावा, 'बीकानेरी ऊँटों को नस्ल उत्पादन और शक्ति के लिए जाना जाता है और अच्छे चरागाहों और सम्यक् वातावरण के अधीन रहने से ये पशु उम्दा क़िस्म के होते हैं।'[46] लगभग तीन दशकों के बाद *इम्पीरियल गजेटियर ऑफ़ इंडिया* में, ऊँट को फिर से परिभाषित किया गया : 'इन्हें मूक जानवरों के बजाय परिवार के एक सदस्य के रूप में देखा जाता है; वे ज़मीन की जुताई करते हैं और उसे काटते हैं, फ़सल घर लाते हैं, लकड़ी और पानी ढोते हैं, और सवारी और संचालन दोनों करते हैं। उनके दूध का उपयोग आहार और दवा के रूप में किया जाता है; उनकी ऊन बिक्री से उचित लाभ होता है, और जब वे मर जाते हैं, तो उनकी खाल से घी और तेल रखने के लिए थैली बनाई जाती है। इन भागों में सवारी ऊँट की नस्ल शायद भारत के किसी भी अन्य भाग से बेहतर है, और जब भी आपातकालीन गति की माँग होगी उनमें से सबसे अच्छी नस्ल का ऊँट एक रात में 80 से 100 मील की दूरी तय करेगा। इनका मूल्य 150 से 300 रुपये के बीच होता है। जैसलमेरी ऊँटों को उनकी सहज गति और कठोरता के लिए जाना जाता है, वे भोजन और पानी के बिना, थोड़ी-सी अपरिष्कृत चीनी और फिटकिरी—जो काठी के थैले में रखी जाती है, के उपयोग पर लम्बी दूरी तय कर सकते हैं। इनमें से सबसे अच्छी नस्लों का सिर और गर्दन सामान्य ऊँट की तुलना में छोटा और पतला होता है। जोधपुर और बीकानेर के ऊँट जैसलमेरी ऊँट की तुलना में बड़े और मज़बूत हैं, और अक्सर बहुत तेज़ चलते हैं।'[47] सामान्य तौर पर जैसलमेर के ऊँटों का इस्तेमाल सवारी के लिए किया जाता था क्योंकि वे चार से पाँच घंटों में 44 कोस तक जा सकते हैं। उनकी तेज़ गति ने उनकी बिक्री बढ़ा दी थी। व्यापारी उन्हें ख़रीदने के लिए सिंध और अन्य दूर देशों से आते थे।

ऊँटगाड़ी के भार पर लिया जाने वाला कर राहदारी था जो 2 से 9 प्रतिशत तक था। रूपाटा कर शहर में ऊँटों और कुछ सामानों की बिक्री पर वसूला जाता था।[48] रेगिस्तान के ठाकुरों के बीच लगातार झड़पें होती रहती थीं जो अक्सर, डकैती और मवेशी उठाने/लूट में विस्तारित हो जाती थी। इन लूटों में आमतौर पर ऊँट और उन पर लदा बोझ, लूट का सामान बनते थे।[49] उपर्युक्त सभी घटनाएँ और प्रकरण राजस्थान में ऊँट के महत्त्व को इंगित करते हैं और विस्तृत क्षेत्रों के अनुसार इस जानवर की विभिन्न नस्लों के बीच भेद को समझने में सहायक हैं। साथ ही, मध्ययुगीन समय से उन्नीसवीं शताब्दी तक इस पशु के साथ हुए जुड़ाव की अटूट निरन्तरता भी स्पष्ट रूप से सामने लाते हैं।

रेबारी समुदाय ऊँटों के पालन-पोषण में माहिर है। जैसाकि पहले उल्लेख किया गया

है, पाबूजी, रेबारी/रायका समुदाय के लिए एक विशेष दर्जा रखते हैं। पाबूजी केवल एक प्रधान अवतार नहीं है, बल्कि वे नायक-देवता हैं, जिन्होंने मारवाड़ में ऊँटनियों (रति धौली शांड) को लाकर, और विशेष रूप से रायका को ऊँट पालने और चराने की ज़िम्मेदारी सौंपी, और रायका के जीवन को अर्थ दिया। रेबारी समुदाय द्वारा पाबूजी की वंदना करने का कारण केवल ये तथ्य नहीं है कि वह ऊँटों को मारवाड़ में लाए। इसका प्राथमिक कारण है रेबारी समुदाय की एक सम्मानजनक व्यवसाय में हिस्सेदारी (ऊँट को चराना और प्रजनन)। रेबारी परम्परा के अनुसार, उनकी उत्पत्ति का सिद्धान्त पौराणिक कथाओं से जुड़ा हुआ है जिसमें पहली ऊँटनी शिव की पत्नी देवी पार्वती द्वारा बनाई गई थी। जवाब में, शिव ने पहले रेबारी को बनाया, इस तर्क के साथ कि वह इस सृष्टि (ऊँटनी) को चराएगा।[50] इस प्रकार उनकी उत्पत्ति के बाद से ही रेबारी/ रायका ऊँट की चराई से जुड़े हुए हैं।

यदि हम पाबूजी की जीवन कथा का अनुसरण करें तो पता चलता है कि रायका बिना ऊँट के थे। ऊँट प्रजनकों के रूप में उनकी प्रधानता भी सन्देह से घिर जाती है। फिर इन कहानियों को आपस में कैसे जोड़ा जाए? इसलिए एक तर्कसंगत खोज की आवश्यकता है। यह इंगित करना महत्त्वपूर्ण है कि ऊँटों को थार में पहली सहस्राब्दी के आसपास लाया गया था और शुरुआती मध्यकाल के दौरान ही यह लोकप्रिय हुए थे।[51] स्पष्ट है कि रेबारी लोग पाबूजी के हस्तक्षेप से पहले भी ऊँट के साथ सहज थे। पाबूजी का हस्तक्षेप महत्त्वपूर्ण था क्योंकि वे एक विशेष नस्ल (थोक)—'लाल-भूरी ऊँटनी'—को समुद्र पार स्थित लंका से लाए थे। कई पारम्परिक व्यक्तियों ने भी इस कथा की पुष्टि की है। वे कहते हैं कि पाबूजी द्वारा लाई गई नस्ल में लाल-भूरे रंग की छटा है और उनके पैरों के ऊपरी पुट्ठों (कंधों) पर बालों के गुच्छे हैं। यह स्वीकार्य है क्योंकि ऊँट (ड्रोमडेरी) दक्षिण अफ्रीका का स्वदेशी है।[52] राजस्थान में पाबूजी पंथ के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्थानीय लोगों का कहना रहता है कि हर मरता ऊँट हमेशा लंका की ओर देखता है। सिंधी मुसलमानों का मानना है कि ऊँटों की 'मातृभूमि' गाँव लंकाय में स्थित ढाणी (हेमलेट) सिरो बगानी थी, जो उमरकोट (अब पाकिस्तान) से बारह मील दूर है। इसके अलावा वे कहते हैं कि इस ढाणी के ऊँटों की सूचना पाबूजी को एक चारण ने दी थी। उसी की सलाह पर पाबूजी ने लंकाय पर छापा मारा और स्थानीय चरवाहों (सिंधियों) को हराने के बाद वह ऊँटों के झुंड को मारवाड़ ले आए। यह विवरण भोपा (पाबूजी की फड़ के पारम्परिक गायन से जुड़े गायक) के आख्यानों में भी तर्कसंगत प्रतीत होता है। वे गाते हैं कि 'जब इन ऊँटों को मारवाड़ ले जाया जा रहा था, तो ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे हज़ारों खेजड़ी (प्रोसोपाइरी सिनेरिया) चल रहे हों।' यह कथन ऊँट और खेजड़ी के पेड़ को निकटता से जोड़ता है। यह दोनों रेगिस्तान में अस्तित्व बनाए रखने में सहायक हैं। बदले में पाबूजी ने सिंधियों को चारण भेंट किए और तब से यह समुदाय सिंधी मुसलमानों की वंशावली गाते और लिखते आ रहे हैं। पाबूजी सिंधियों के लिए एक बटमार की भूमिका में उभरकर सामने आते हैं। जैसाकि पहले भी चर्चा हुई है, रेगिस्तान में विभिन्न समुदाय छापे मारकर जीवनयापन करते थे। लेकिन रेबारी पाबूजी को एक डकैत (रेडर) के रूप में नहीं देखते। उनके लिए वह एक योद्धा है जिन्होंने लंका के 'अत्याचारी/राक्षस' राजा से ऊँटों की रक्षा की। पाबूजी महाकाव्य से जुड़े लोक-संगीतकारों की रचनात्मकता तब स्पष्ट होती है जब वे सिंध की लंकाय को रावण की लंका बना देते हैं। साफ़ तौर पर नहीं कहा जा सकता कि यह घालमेल कब हुआ लेकिन यहाँ सांस्कृतिक आदान-प्रदान और मेल-मिलाप के दौरान हुई कंडीशनिंग का प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

सिंधी मुसलमानों द्वारा बनाए गए संस्करण की पुष्टि नैंसी भी करते हैं। *राज मारवाड़ जनगणना रिपोर्ट* भी इसी को दोहराती है। *मारवाड़ जनगणना रिपोर्ट* के अनुसार, लंकथली सिंध में एक क्षेत्र था जो कि ऊँटनियों के लिए प्रसिद्ध था। इस क्षेत्र तक पहुँचने के लिए एक समुद्र को पार करना पड़ता था। ऊँटों के झुंड के साथ समुद्र के माध्यम से मारवाड़ में वापस आने के लिए पाबूजी ने दो धनुषों को, दो तटों के बीच रखा था और इस पर मोर के पंख बिछा रखे थे। जैसे-जैसे ऊँट पंखों के पुल पर चले, उनके ऊपर पैरों के निशान आने लगे। यह माना जाता है कि तभी से ये निशान मोर-पंखों पर हैं। उन ऊँटनियों का क्या हुआ, इस पर अलग-अलग राय दर्ज हैं। भोपों का कहना है कि पाबूजी द्वारा लाए गए ऊँटों को दो हिस्सों में विभाजित किया गया और उनमें से आधे, केलाम बाई को भेजे गए थे और अन्य हरमल देवासी (पाबूजी के साथी) को उपहार में दिए गए थे। *राज मारवाड़ जनगणना रिपोर्ट* के अनुसार उनमें से अधिकांश केलाम को भेजे गए थे और कुछ को मारवाड़ के खेजड़ी जंगलों और धौरों (टीलों) में मुक्त छोड़ दिया गया था। किसी भी संस्करण की पुष्टि करना मुश्किल है, लेकिन यह तो स्पष्ट है कि ऊँट दूर प्रदेश से लाए गए थे। पाबूजी की छवि मार्शल संन्यासी की है, जो युद्ध के मैदान में शहीद होने के बाद भी सभी सांसारिक मामलों पर लोगों का मार्गदर्शन करते रहते हैं। इसलिए पाबूजी का मन्दिर हर रेबारी गाँव में पाया जाता है। वास्तव में जब भी रेबारी/रायका द्वारा कोई नया ग्राम बसाया जाता है तो उसमें सबसे पहले पाबूजी-देवता के नाम पर एक भूमि-टुकड़ा (*ओरण*) रखा जाता है, जिस पर पाबूजी का मन्दिर धन-संग्रह करके बनाया जाता है। कभी-कभी सिर्फ़ एक मंच (थान/ चुथरा) का निर्माण करके एक पत्थर पाबूजी के प्रतीक के रूप में लगा दिया जाता है।

और अन्त में : ऊँट की घटती आबादी

बीसवीं सदी के अन्त में ऊँट की स्थिति और रखरखाव में परिवर्तन हुआ। दो दशकों (1997 से 2016) के भीतर ऊँटों की संख्या में ख़तरनाक गिरावट दिखाई दी है। 1997 की एक सर्वेक्षण रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि उस वर्ष राजस्थान में ऊँटों की संख्या सात लाख थी। ऊँटों की लगातार घटती संख्या निम्नलिखित आँकड़ों से परिलक्षित होती है[53] :

वर्ष	ऊँटों की संख्या
1997	7, 00,000
2003	4, 98, 000
2007	4, 30, 000
2012	4, 21, 836
2014	2, 00, 000
2016	50, 000

यह सतत गिरावट कई पर्यावरणविदों और प्रजनकों के लिए भी चिन्ता का कारण है। जैसलमेर के ऊँट बहुल क्षेत्र के गाँवों में अगस्त 2006 से अप्रैल 2007 तक *लोकहित पशु-पालक संस्थान* (एलपीपीएस) द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार ऊँटों की आबादी में 40.6 प्रतिशत की गिरावट है। बाड़मेर ज़िले में 44.3 प्रतिशत और शेरगढ़ तहसील (जोधपुर) और कोलायत तहसील (बीकानेर) में 46 प्रतिशत और 45 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई।[54]

'संख्या में लगातार गिरावट के कारण ऊँट महँगा हो गया और 50,000 से कम संख्या होने के कारण, इंटरनेशनल यूनियन फॉर कंजर्वेशन ऑफ़ नेचर एंड नेचुरल रिसोर्सेज (आईयूसीएन) के द्वारा दुर्लभ लुप्तप्राय प्रजाति घोषित किया गया है।[55] एक अन्य रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि जिस गाँव के आसपास बीस साल पहले ऊँटों का प्रजनन किया जाता था, आज वहाँ केवल एक ही ऊँट है। सौ किलोमीटर उत्तर में, भारत-पाकिस्तान सीमा के क़रीब तेजपला गाँव में, केवल छह ऊँट हैं।[56] ऊँटों की संख्या में इस भारी गिरावट ने भारत को पाँचवें स्थान पर पहुँचा दिया है, जो पहले विश्व में ऊँटों की तीसरी सबसे बड़ी आबादी के लिए जाना जाता था। रेगिस्तान के इस मूल-पशु के प्रति निवासियों के दृष्टिकोण में बदलाव भी चिन्ताजनक है। एक मूलनिवासी का कहना है कि ऊँट अब रेगिस्तान के परिदृश्य का हिस्सा नहीं हैं और जब वे दिखाई देते हैं, तो बच्चे सवारी का आनन्द लेने के लिए दौड़ते हुए आते हैं। 'उनके लिए यह एक बाघ का सामना करने जैसा है।'[57] जैसे पहले रायका समुदाय ऊँट का पालन-पोषण करते थे अब वे ऊँट से उस तरह नहीं जुड़े हैं। रायका युवा अब इस जानवर को पसन्द नहीं करते हैं[58] और अब वे शहरी नौकरियों में अधिक रुचि रखते हैं। समुदाय के दृष्टिकोण में परिवर्तन बिक्री की प्रकृति के माध्यम से भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। पहले, ऊँटनी कभी नहीं बेची जाती थी, लेकिन अब समुदाय के सदस्य इस परम्परा का न तो ध्यान रखते हैं और न ही इसका पालन करते हैं। यह बदलाव ऊँट प्रजनकों के पास संसाधन और संरक्षण नहीं होने के कारण है जो अनिवार्य रूप से इस जानवर की स्थिर संख्या को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। रायका समय-समय पर इस व्यापार में शामिल जोखिम को बताते रहे हैं।

ऊँट का लोनावाला, पुणे, खंडाला, आगरा, पंचगनी, महाबलेश्वर, अलीबाग बॉम्बे, हैदराबाद, केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, झारखंड, आदि के नम-क्षेत्रों में आनन्दमयी सवारी के लिए प्रयोग किया जा रहा है। यह इस जीव के लिए घातक साबित हो रहा है। मुख्य रूप से ऊँटों को थार के शुष्क-क्षेत्र (ऊँट अनुकूल जलवायु) से बाहर निकालकर इन क्षेत्रों में निर्यात किया जाता है। नई भूमि में ऊँटों का उपयोग हर्षित और कलाबाज़ी गतिविधियों के लिए भी किया जाता है। यह हमें पता है कि नम वातावरण ऊँट के लिए उपयुक्त नहीं है, इसलिए पाया गया है कि अधिकांश ऊँट जिन्हें सूखे रेगिस्तान से आर्द्र क्षेत्रों में स्थानान्तरित कर दिया गया है, वे एंथ्रेक्स नामक संक्रामक रोग से पीड़ित हो जाते हैं। ऊँट के निर्यात का अन्य प्रमुख कारण कुछ विशेष त्योहारों के मौसम में आने वाली माँग है। ऊँट के वध पर कर्नाटक उच्च न्यायालय, तमिलनाडु उच्च न्यायालय और केरल उच्च न्यायालय द्वारा प्रतिबन्ध लगाए गए थे। यह दर्शाता है कि ऊँट को इसके मांस के लिए भी निशाना बनाया गया था।[59] मांस के अलावा, ऊँट के चमड़े की माँग भी बहुत अधिक है क्योंकि इसका उपयोग विभिन्न वस्तुओं जैसे मोजरी/मोजड़ी (पारम्परिक जूता), कुपिस (पेंट द्वारा सजी बोतलें जो इत्र, तेल और पानी, आदि पर एम्बॉसिंग के लिए प्रयोग की जाती हैं), और कई अन्य सामान जैसे—बैग, फर्नीचर, लैंपशेड, कटोरे और ड्रम-कवर आदि बनाने के लिए होता है। ऊँट की हड्डियाँ, हाथी-दाँत का एक प्रतिस्थापन हैं। इसीलिए यह व्यापक रूप से आभूषण और कई क़िस्म के सुन्दर नायाब कंटेनर बनाने के लिए भी उपयोग में लाई जाती हैं।

2014 में राजस्थान सरकार ने इस आपदा को पहचाना और ऊँट को राज्य-पशु घोषित करते हुए एक अधिनियम जारी किया। एक साल बाद, 2015 में राजस्थान ऊँट (वध निषेध और अस्थायी प्रवासन या निर्यात पर प्रतिबन्ध) विधेयक आया जिसने ऊँट के वध, व्यापार

और अनधिकृत परिवहन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यहाँ यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि थार रेगिस्तान में ऊँट के प्रति किए जाने वाला व्यवहार, पशु के प्रति महसूस की जाने वाली करुणा और प्रेम पर आधारित था। यह दर्शन पशु को बनाए रखने के लिए था क्योंकि यह थार-मरुस्थल के जीवन का अहम आधार था। घुमन्तू और पशु-पालक समुदायों को निर्देशित करने वाला विचार, इस पशु के रूप में चलती और बढ़ती हुई पूँजी, और संसाधन के प्रति विश्वास था जो इन समुदायों को इस पशु के प्रति उत्सुक रखता था। ऊँट एक ऊर्जा संरक्षक जीव है। चारे और पानी की न्यूनतम आवश्यकताओं ने इसे और सराहनीय बना दिया था। विभिन्न चराई शैलियों के आधार पर यह पशु अपने दम पर ही चारे की ज़रूरत को पूरा करने में सक्षम था।[60]

यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्र चराई क्षमता के बाद भी ऊँट आसपास की वनस्पतियों से न्यूनतम लेता है और डेयरी उत्पादों, बछड़ों और खाल के रूप में कहीं अधिक लौटा देता है। अन्ततः, यह कहा जा सकता है कि ऊँट की घटती आबादी मनुष्य और प्रकृति के बीच के संघर्ष को स्पष्ट करती है। यह ध्यान रखना उचित होगा कि किसी भी प्रजाति के विलुप्त होने से पहले, दो संकेत प्रमुखता से इंगित होते हैं : (i) प्रजातियों की जनसंख्या में कमी, (ii) वितरण क्षेत्र का सिकुड़ना। वर्तमान में यह दोनों लक्षण ऊँट और उसके परिवेश के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे हैं। ऊँट की आबादी तेज़ी से विलुप्त होने की कगार पर पहुँच रही है और यह विशुद्ध रूप से मानव निर्मित कारकों में से है।

सन्दर्भ

1. प्रणय लाल (2016), 291.
2. वही
3. आर. एच. मीडो (1984), 133-39 (135-6).
4. वही, 136.
5. जे. एफ. जेरीग्रे और आर. एच. मीडो (1980); एम. लेचेवैलियर और जी. क्विवरॉन (1977); जे. एफ. जेरीग्रे और एम. लेचेवैलियर (1977), 469-535.
6. आर. डब्ल्यू. बुलिट (1975), 30.
7. वही, 188.
8. वही, 35.
9. जियाउद्दीन सरदार (2014).
10. आर. एच. सेंगर (1954), 164.
11. एच. आर. पी. डिक्सन (1956), 571.
12. वीलियम बीनार्ट और लोटे ह्यूजेस (2010), 251.
13. एस. बी. माइल्स (1919).
14. बीनर्ट और लोटे ह्यूजेस, 261.
15. आर. डब्ल्यू. बुलिट (1975), 41.
16. डोमिनिक-सिला ख़ान (2003), 68-9 और जॉन. डी. स्मिथ (1991), 6-7.
17. आर. पी. राणा (2006), 134.
18. कर्नल जेम्स टॉड (1920), 843.
19. अबुल फ़ज़ल (1902, पुनर्मुद्रण 2010), 587.
20. वही, 589.

21. जहाँगीर (1909, पुनर्मुद्रण 2006), 46.
22. टॉड, वॉल्यूम. 3, 1305.
23. गोविंद अग्रवाल (1965-66), 11-29 (20).
24. वही, 22.
25. वही, 23.
26. मनहोत नैंसी (1962), 94, 159 और 175.
27. अबुल फ़ज़्ल, *अकबरनामा*, खंड-1, 571.
28. अबुल फ़ज़्ल, *आइन-ए-अकबरी*, खंड-3, 62.
29. वही, 62.
30. शिकार अभ्यास और सैन्य प्रयासों में ऊँटों के इस्तेमाल से सम्बन्धित विवरण में *शुतुरखाना दस्तावेज़* बहुत समृद्ध हैं। 1717 ई. में सम्राट के शिकार अभियानों के लिए ऊँटों की आपूर्ति के लिए अंबर राज्य से माँग की गई थी।
31. सुम्बुल हलीम ख़ान (2015), 92.
32. टॉड, 1201.
33. नैंसी, *मरवाड़ रा परगना री विगत*, वॉल्यूम-2, 337; ऊँट की सवारी करने से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति या तो राज्य के लिए परिवहनकर्ता के रूप में काम कर रहा था या रेगिस्तान के दूर-दराज के क्षेत्रों में शाही सन्देश पहुँचाने में मदद कर रहा था।
34. नैंसी, *मरवाड़ रा परगना री विगत*, वॉल्यूम-2, 334.
35. टॉड, वॉल्यूम-2, 1152.
36. *सनद परवाना बही*, फागुन सूद 12 वी. स. 1821/1764 ई.
37. *जामा ख़ार नफ़र शुतुरखाना*, भादवा सुदी 3 वी. स. 1771/1715 ई. से भादवा सुदी 2 वी. स. 1774/1717 ई. सन्.
38. सिग्रीड वेस्टफाल-हेलबस (1975), 117-38.
39. जी. एन. शर्मा (1970), 126.
40. महेश रंगराजन (1988), 265-99.
41. मनीषा चौधरी (2018).
42. *राजपूताना गजेटियर*, खंड 1, 96.
43. *जामा ख़ार नफ़र शुतुरखाना*, भादवा सुदी 3 वी. स. 1771/1715 ई. से भादवा सुदी 2 वी. स. 1774/1717 ई..
44. देसी नस्ल के ऊँट काले, भूरे, लाल, साँवले (काले-भूरे) और धोला (सफ़ेद) थे।
45. *राजपूताना गजेटियर*, खंड 1, 97.
46. वही, 186.
47. *इम्पीरियल गजेटियर ऑफ़ इंडिया* (1908), 46-7.
48. *राजपूताना गजेटियर*, खंड 1, 192.
49. वही, 196.
50. *रिपोर्ट मरदुमशुमारी राज मारवाड़* (1891), 567-8.
51. बुलिट, *द कैमल एंड द व्हील*।
52. वही
53. http://www.bwcindia.org/Web/Awareness/LearnAbout/Camels.html and 'कैमल प्राइस ऑन द राइज़, नम्बर ऑन दि डिक्लाइन', *द हिन्दू*, 29 अप्रैल, 2008, https://www.thehindu.com/todays-paper/tp-national/tp-otherstates/Camel-prices-on-the-rise-numbers-on-the-decline/article15211975.ece और रोहित परिहार,

इंडिया टुडे, 30 मई, 2005, https://www.indiatoday.in/magazine/environment/story/19700101-camel-population-declining-drop-in-birth-rate-of-camel-in-india-787548-2005-05-30.

54. 'कैमल प्राइस ऑन द राइज़', वही
55. मेनका गाँधी, 'द सिंकिंग शिप ऑफ़ दे डेजर्ट', *द हिन्दू*, 21 सितम्बर, 2015, https://www.thehindu.com/opinion/op-ed/the-sinking-ship-of-the-desert/article7671220.ece
56. रोहित परिहार, वही.
57. वही
58. मसीह रहमान, द *गार्जियन*, 24 जनवरी, 2014, https://www.theguardian.com/world/2014/jun/24/rajasthan-save-camel-population-legal-protection-india
59. http://www.bwcindia.org/Web/Awareness/LearnAbout/Camels.html
60. ऊँट को प्रदान किए जाने वाले चारे की मात्रा, उम्र और मौसम के अनुसार बदलती रहती है। ऊँटों को अच्छी स्थिति में रखने के लिए चराई आवश्यक है क्योंकि वे अपनी शारीरिक आवश्यकता के अनुसार टहनी, लाठी, विभिन्न प्रकार के पत्ते आदि चरते हैं। इसलिए, प्रजनक बड़े खुले रेतीले भूभागों के आसपास रहना पसन्द करते हैं।

सहायक ग्रंथ

अबुल फ़ज़्ल (1902, पुनर्मुद्रण 2010), *अकबरनामा,* एच. बेवेरिज (अनु.) खंड-1, लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली।

आर. एच. सेंगर (1954), द *अरेबियन पेनुंसुला,* कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क।

आर. एच. मीडो (1984), 'मोहनजोदड़ो का एक ऊँट कंकाल', *फ्रंटियर्स ऑफ़ द इंडस सिविलाइजेशन,* बी.बी. लाल और एस. पी. गुप्ता (सं.), इंडियन आर्कियोलॉजिकल सोसाइटी की ओर से बुक्स एंड बुक्स, *इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर सोसाइटी,* नई दिल्ली।

आर. पी. राणा (2006), *रिबेल्स टू रूलर्स : द राइज़ ऑफ़ जाट पावर इन मीडिएवल इंडिया C. 1665-1735,* मनोहर, दिल्ली।

आर. डब्ल्यू. बुलिट(1975), द *कैमल एंड द व्हील,* हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

इम्पीरियल गजेटियर ऑफ़ इंडिया (1908), *प्रोविंशियल सीरीज़ राजपूताना,* कार्यालय अधीक्षक मुद्रणालय, *रिपोर्ट मरदुमसुमारी राज मारवाड़,* 1891, 2, खंड, भाग-3, जोधपुर।

एम. लेचेवैलियर और जी. क्विवरॉन (1979), द *नियोलिथिक इन बलूचिस्तान : न्यू एविडेंस फ्रॉम मेहरगढ़, साउथ एशियन आर्कियोलॉजी,* एच. हर्टेल (1979), सम्पादक, बर्लिन।

एच. आर. पी. डिक्सन (1956), *कुवैत एंड हर नेबर,* जॉर्ज एलन और अनविन, लंदन।

एस. बी. माइल्स (1919), द *कंट्रीज एंड द ट्राइब्स ऑफ़ पर्शियन गल्फ़,* फ्रैंक कैस, लंदन।

कर्नल जेम्स टॉड (1920), *एनल एंड एंटीक्वीटीज़ ऑफ़ राजस्थान,* विलियम क्रुक (सं.), 3. खंड, खंड-2, हम्फ्री मिलफोर्ड-ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।

जे. एफ. जेरीग्रे और आर. एच. मीडो (1980), द *अंटीसीडेंट्स ऑफ़ सिविलाइजेशन इन द इंडस वैली,* साइंटिफिक अमेरिका, सं. 243 (2)।

जे. एफ. जेरीग्रे और एम. लेचेवैलियर (1977), *एक्स्कवेसन एट मेहरगढ़, बलूचिस्तान : देयर सिग्निफिकेंस इन द प्री-हिस्टोरिकल कांटेक्स्ट ऑफ़ द इंडो-पाकिस्तानी बोर्ड्लैंडस' साउथ एशियन आर्कियोलॉजी,* एम. टेड्डी (सं.), वॉल्यूम 1, इस्टिटूटो यूनिवर्सिटारियो ओरिएंटेल, सेमिनारियो डी स्टडी एशियाटिक, नेपल्स।

ज़ियाउद्दीन सरदार (2014), *मक्का : द सेक्रेड सिटी,* ब्लूम्सबरी प्रकाशन पीएलसी, लंदन।
डोमिनिक-सिला ख़ान (2003), *कन्वर्ज़न एंड शिफ्टिंग आइडेंटिटी : रामदेव पीर एंड इस्माइलिस इन राजस्थान,* मनोहर, दिल्ली।
जॉन. डी. स्मिथ (1991), *द एपिक ऑफ़ पाबूजी : ए स्टडी ऑफ़ ट्रांसक्रिप्शन एंड ट्रांसलेशन,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
जहाँगीर (1909, पुनर्मुद्रण 2006) *तुज़ुक-ए-जहाँगीरी,* 2 खंड, अलेक्जेंडर रोजर्स (ट्र.), हेनरी बेवरिज (सं.), वॉल्यूम. 2, लो-प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली।
गोविंद अग्रवाल (1965-66), 'राजस्थान के जन-जीवन और लोक साहित्य में ऊँट', *मरु भारती,* खंड-12 : 11-29 (20)।
मनहोत नैंसी (1962), *मन्होत नैंसी री खायत,* बद्री प्रसाद साकरिया (सं.), वॉल्यूम 2, राजस्थान ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, जोधपुर।
जामा ख़ार नफ़र *शुतुरखाना,* भादवा सुदी 3 वी. स. 1771/1715 ई. से भादवा सुदी 2 वी. स. 1774/1717 ई. सन्।
जी. एन. शर्मा (1970), *राजस्थान स्टडीज,* लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, शैक्षिक प्रकाशन, आगरा।
प्रणय लाल (2016), *इंडिका : ए डीप नेचुरल हिस्ट्री ऑफ़ द इंडियन सबकॉन्टिनेंट,* एलन लेन, हरियाणा।
महेश रंगराजन (1988), *द राज एंड द नेचुरल वर्ल्ड : द वॉर अगेंस्ट 'डेंजरस बीस्ट्स' इन कोलोनियल इंडिया, स्टडीज इन हिस्ट्री,* वॉल्यूम 14 (2)।
मनीषा चौधरी (2018), *ट्रेड, ट्रांसपोर्ट एंड टांडा : शिफ्टिंग आइडेंटिटीज ऑफ़ बंजारा,* मनोहर, दिल्ली।
वीलियम बीनार्ट और लोटे ह्यूजेस (2010), *एनवायरनमेंट एंड एम्पायर : ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ द ब्रिटिश एम्पायर,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
रिचर्ड महापात्र(2021), *ए रप्चर इन द रिदम, डाउन टु अर्थ : स्टेट ऑफ़ इंडियाज एनवायरनमेंट 2021, सेंटर फ़ॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट,* दिल्ली।
सुम्बुल हलीम ख़ान (2015), *आर्ट एंड क्राफ़्ट वर्कशॉप अंडर द मुग़ल्स : ए स्टडी ऑफ़ जयपुर कार्खानास,* प्राइमस बुक्स, दिल्ली।
सिग्रीड वेस्टफाल-हेलबस (1975), *चेंजेज इन मीनिंग ऑफ़ एथनिक एज एज़मप्लीफाइड बाई द जाट, रबारी, भारवाड़ एंड चारण इन नार्थ वेस्टर्न इंडिया,* एल.एस. लेशनिक और जी.डी. सोंथीमेर (सं.), *पैस्टोरलिस्ट्स एंड नोमड्स इन साउथ एशिया,* ओटो हैरासोवित्ज़, वेसबाडेन।

दलित संगीत-परम्पराएँ : संस्कृति, पहचान और संगीत का निष्पादन[1]

चंद्रैया गोपानी

संगीत लोगों के सांस्कृतिक जीवन का एक आवश्यक पहलू है। संगीत की निर्मिति सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यक्तिगत इच्छाओं और ज़रूरतों पर निर्भर करती है। भारत में कई संगीत-परम्पराएँ हैं जिनमें से कुछ को शास्त्रीय माना जाता है और कुछ को लोक और जातीय संगीत कहा जाता है। तथाकथित 'शास्त्रीय संगीत' संस्थागत और आधिपत्यशाली है जिसे राष्ट्रीय पहचान के प्रतीक के रूप में पेश किया जाता है। इसी के साथ दलितों द्वारा निर्मित और प्रस्तुत किया जाने वाला संगीत मुख्यधारा और संस्थागत संरचनाओं में अपना स्थान नहीं बना पाता है, इसलिए वह सार्वजनिक दायरे में अदृश्य रहता है। शास्त्रीय संगीत को शुद्ध, वैज्ञानिक और राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला माना जाता है। दलित संगीत-परम्पराओं को स्थानीय और अशुद्ध माना जाता है और इससे जुड़े कलाकारों को कलंकित भी किया जाता है। संगीत का यह पदानुक्रम संगीत-परम्पराओं में दलितों के बड़े योगदान को नकारता है। इस परचे का उद्देश्य दलित संगीत-परम्पराओं के अध्ययन और उनके प्रलेखन की आवश्यकता को रेखांकित करना है। इसके अलावा यह संगीत की सामाजिक भूमिका और लोगों के संघर्ष और राजनीति में उसकी उपस्थिति की पड़ताल करता है। इस अध्ययन में दक्षिण भारत में तेलुगु क्षेत्र को लिया गया है जो अपनी विविधवर्णी संगीत-परम्पराओं के लिए जाना जाता है।

दलित संगीत-परम्पराओं के अध्ययन करने की आवश्यकता क्यों है?

दलित संगीत के रचयिता हैं। उन्होंने न केवल कई वाद्ययंत्रों का निर्माण किया और उनके प्रदर्शन की विधियाँ ईज़ाद कीं बल्कि संगीत से सम्बन्धित समृद्ध ज्ञान का सृजन भी किया। पारम्परिक से लेकर आधुनिक संगीत-शैलियों के विभिन्न संगीत-रूपों को बनाने में दलित शामिल रहे हैं लेकिन दलितों के बीच अधिकांश संगीत-परम्पराएँ मौखिक और अनौपचारिक

तरीक़ों से जीवित हैं। दलित संगीत-परम्पराएँ ऐतिहासिक हैं, उन्होंने व्यक्तियों, समूहों और पीढ़ियों को प्रभावित किया है। इसके अलावा वे परिवर्तन और निरन्तरता के साथ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती रही हैं। इस प्रक्रिया में व्यक्ति और समूह उन्हें आगे बढ़ाने, संशोधित करने और प्रासंगिक बनाए रखने में योगदान करते हैं। तेलुगु क्षेत्र में 'डप्पू', तमिलनाडु में 'पराई', महाराष्ट्र में 'अंबेडकर जलसा' और 'साहिर' जैसी संगीत-परम्पराएँ इसके उदाहरण हैं।[2]

दलित राजनीति, गोलबंदी और सबलीकरण की विभिन्न क्षेत्रीय उपलब्धियों पर शानदार अध्ययनों की एक समृद्ध विरासत के बावजूद दलित संगीत-परम्पराओं पर अध्ययन न्यूनतम हैं, और जो हैं भी, वे भी कार्यकर्ता और कलाकार मंडलियों के ऊपर हैं और वे ज़्यादातर ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म और लोकप्रिय पत्रिकाओं में प्रकाशित होते हैं। बहुजनों के संगीत-वाद्ययंत्रों और दस्तावेज़ों को समझने के अकादमिक प्रयास न्यूनतम हैं। संगीतकारों, गायकों के जीवन-वृत्त और संगीत-परम्परा रूपों के साथ अभी गहराई से जुड़ाव होना बाक़ी है। इस शून्य ने संस्थानों और सार्वजनिक क्षेत्र में ब्राह्मणवादी कला-रूपों को जारी रखने की गुंजाइश को बढ़ावा भी दिया। यह लेख संस्थानों और विद्वानों, कार्यकर्ताओं, कम से कम फुले-अंबेडकरवादी आन्दोलनों के भीतर, को इस मुद्दे पर ध्यान देने और इससे आलोचनात्मक जुड़ाव के लिए रुचि लेने का आह्वान करता है। दस्तावेज़ीकरण और संस्थागतकरण में दलित संगीत-परम्पराओं की अनुपस्थिति में, मुख्यधारा के कला-रूपों और संगीत-परम्पराओं को राष्ट्रीय और शास्त्रीय रूप में पेश किया जाता है। मुख्यधारा की इन संगीत-शैलियों के कलाकारों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी राज्य के संसाधनों से लाभ उठाया है और अपने संगीत कला-रूपों को उन्नत किया है। सबाल्टर्न बहुजन कलाकारों को थोड़ी सी पेंशन के लिए धकेल दिया जाता है। और यह भी कुछ व्यक्तियों के लिए ही उपलब्ध है।[3] एक तरह से सरकार की नज़र में इन कला-रूपों को मान्यता देने के लिए कलाकारों को कुछ पेंशन देना ज़रूरी है। इसका मतलब कला और संगीत-परम्पराओं के लिए उनके श्रम और ज्ञान के मूल्य और योगदान की वास्तविक सराहना का कोई प्रयास नहीं है। जैसा अजित कुमार का तर्क है कि 'कुछ उदार उच्च जाति के व्यक्ति यह कहने की कोशिश कर रहे हैं कि शास्त्रीय संगीत के भीतर विविधता की आवश्यकता है, लेकिन वे इन संगीत-रूपों की संरचना और इन कला-रूपों को वैध बनाने में ऐतिहासिक विशेषाधिकार प्राप्त करने के तरीक़े की आलोचना करने में विफल रहते हैं। विभिन्न टीवी कार्यक्रमों में संगीत / गायन प्रतियोगिताओं पर आधारित सभी रियलिटी शो इसे स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं।'[4] ब्राह्मणवादी सौनदर्यशास्त्र हमेशा कला-रूपों के पदानुक्रम और उन्नयन को बढ़ावा देता है। यह पदानुक्रम स्वाभाविक रूप से दलित संगीत-परम्पराओं को दरकिनार करता है और उन्हें कलंकित करता है। विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में अधिकांश ललित कला और संगीत विभाग तथाकथित शास्त्रीय संगीत पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और अध्ययन करते हैं, और उनके संकाय सदस्य उच्च जातियों से आते हैं। यहाँ तक कि अगर सबाल्टर्न संगीत पाठ्यक्रम में शामिल हैं तो उन्हें लोक संगीत के लिए छोड़ दिया जाता है। इन संगीत-रूपों को संस्थागत बनाने और दलित और सबाल्टर्न संगीत-रूपों को प्रोत्साहित करने और समर्थन करने में कोई दिलचस्पी नहीं ली जाती है। सांस्कृतिक संस्थान और अकादमियाँ शास्त्रीय और ब्राह्मणवादी संगीत-रूपों पर किताबें, अभिलेखागार, वृत्तचित्र बनाने में समय और संसाधन लगाती रही हैं। नतीजा यह है कि कला और संगीत-विभागों में शोध, अध्यापन और चर्चा संगीत-ज्ञान पर एकतरफ़ा कहानी बन गई है।[5]

दूसरी तरफ़ कई दलित संगीत-मंडलियाँ हैं जो बदलती प्रवृत्तियों के अनुसार अगली पीढ़ी के संगीतकारों, कलाकारों और गायकों को प्रशिक्षण दे रही हैं। तमिलनाडु में पंडित रंजीत के मार्गदर्शन में 'वन्नम कला महोत्सव' नामक दलित संगीत-समारोह शुरू किया गया है। वन्नम त्योहार सामाजिक जागरूकता को बढ़ावा देने के लिए दलित और अन्य संगीत और कला-रूपों को सामने लाता है।[6] दलित कला मंडली, बहुजन कला मंडली, डप्पू कलाकारों के संघों, भीम गीत मंडलियों, गायकों आदि के नाम पर पारम्परिक गायकों और संगीतकारों के कई दल हैं। कई मौजूदा पुराने संगीत-मंडलों और समूहों के साथ नए उभरते संगीत बैंड हैं जैसे 'कास्टलेस कलेक्टिव', 'धम्म विंग', 'विलुवंडी', 'रैप टोली', 'भीम ड्रम', 'बहुजन लय'। यह सभी समूह जाति-विरोधी चेतना में योगदान दे रहे हैं।

दलित अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग तरह के संगीत और प्रदर्शन में लगे हुए हैं, लेकिन उनकी बातचीत, संचार और संवाद विशिष्ट क्षेत्रीय भाषाओं तक ही सीमित हैं। इसलिए, पूरे भारत में कलाकारों के लिए नेटवर्क, संगीत-मंडली बनाने और सामान्य मंच बनाने की कोई मुहिम आकार नहीं ले पाती है। अमेरिका में अश्वेत कलाकारों और संगीतकारों की यात्रा और हार्लेम पुनर्जागरण से यह आन्दोलन सीख ले सकता है। अमेरिका में प्रतिवर्ष वे अश्वेत संगीत में योगदान देने वाले लोगों को सम्मानित करने के लिए 'ब्लैक म्यूज़िक ऑनर्स' मनाते हैं। वे महान अश्वेत संगीतकारों को याद करने के लिए संगीत में अश्वेत होने का जश्न मनाते हैं। अश्वेत संगीतकारों की यह उल्लेखनीय यात्रा दलित संगीतकारों को अपने अनूठे तरीक़े से योगदान करने और भारतीय संगीत को लोकतांत्रिक बनाने में मदद करने के लिए प्रेरित कर सकती है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में उपलब्ध सांस्कृतिक और तकनीकी परिवर्तनों के साथ दलित अपने पारम्परिक संगीत का आधुनिकीकरण भी कर रहे हैं। भीम गीत, हिप-हॉप, रैप, पॉप, रॉक और अन्य रूप भी बनाए गए हैं और दलित कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किए जा रहे हैं। हाल ही में अरिवु, इसाइवानी (तमिलनाडु), सुमित सुमोस, रैपर दुले रॉकर (उड़ीसा), सेतु विलुवंडी, वेदान (केरल), गिन्नी माही (पंजाब) जैसे दलित रैपर्स ने कई गाने बनाए हैं, जिन्होंने दुनिया-भर के संगीतप्रेमियों को आकर्षित किया है।[7] ये रैपर अपने गीतों और प्रदर्शनों में जाति-विरोधी चेतना पैदा करने के उद्देश्य से विभिन्न सामाजिक मुद्दों पर बात करते हैं। वे सभी पहली पीढ़ी के शिक्षित व्यक्ति हैं जो संगीतकार, गायक और कलाकार बन गए हैं।[8] अमेरिका के वे विद्वान जो अश्वेत वर्ग के हैं या अश्वेत प्रजातियों के वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं, वे संगीत और उसके सौन्दर्यशास्त्र पर गम्भीरता से अध्ययन कर रहे हैं और उस पर शोध कर रहे हैं। कई केन्द्रों, अकादमियों ने एफ्रो-अमेरिकन संगीतकारों और गायकों के जीवन-इतिहास और योगदान और उनके उपकरणों के दस्तावेज़ीकरण में रुचि ली है। हार्लेम पुनर्जागरण ने अश्वेत सांस्कृतिक और संगीत आन्दोलनों की एक नई शुरुआत की। जैज, ब्लूज, हिप-हॉप, रैप, रॉक एंड रोल और अन्य रूपों जैसी संगीत-परम्पराओं ने वैश्विक संगीत जगत में एक नया इतिहास रचा। जाति-विरोधी लामबंदी के लिए संगीत सबसे प्रभावी रूपों में से एक है। फुले-अंबेडकर, बहुजन चेतना के साथ उभरते संगीतकार, गायक, गीतकार आ रहे हैं। यह कला और संगीत की दुनिया में बहुजन चरण की एक नई शुरुआत है। यह केवल निरन्तर प्रलेखन, महत्त्वपूर्ण अध्ययन और जुड़ाव के साथ ही उत्पादक, प्रभावी और टिकाऊ हो सकता है।

दलित संगीत-वाद्ययंत्रों का दस्तावेज़ीकरण

मूल ध्वनि नामक पुस्तक का सम्पादन जयधीर थिरुमल राव और गुडुरु मनोजा ने किया है। यह पुस्तक 2019 में एक ही शीर्षक के साथ तेलुगु और अंग्रेज़ी दोनों में प्रकाशित हुई। दलित और आदिवासी संगीत-परम्पराओं पर अध्ययन के अभाव में यह पुस्तक सबाल्टर्न समुदायों के पचास से अधिक संगीत-वाद्ययंत्रों के दस्तावेज़ीकरण में एक अनूठी कृति है। पुस्तक दोनों लेखकों के दीर्घकालिक क्षेत्रीय कार्य का परिणाम है। पुस्तक में दर्ज अधिकांश उपकरण एकल कलाकारों के साथ विलुप्त होने के चरण में हैं। इसलिए पुस्तक लिखने से पहले लेखकों ने दो सौ से अधिक कलाकारों के साथ एक बड़ा 'मूल ध्वनि संगीत कार्यक्रम' आयोजित किया। इस संगीत समारोह को रिकॉर्ड किया गया और बाद में इसे पुस्तक के रूप में लाया गया।[9] इस पुस्तक के लेखकों का इरादा प्रत्येक वाद्ययंत्र के गहन अध्ययन में जाने का नहीं था, उनका उद्देश्य पाठकों को यह दिखाना था कि कैसे दलित और आदिवासी समुदायों ने विभिन्न प्रकार के संगीत-वाद्ययंत्रों का निर्माण किया, उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षित और प्रदर्शित किया। संगीत-वाद्ययंत्रों की दो श्रेणियाँ हैं। एक, चमड़ा-आधारित वाद्ययंत्र और दूसरे, तार वाले यंत्र। इन सभी संगीत यंत्रों का प्रदर्शन उन लोगों द्वारा किया जाता है जिन्होंने इन्हें बनाया है। इन उपकरणों का उपयोग उनके सामाजिक, धार्मिक और दैनिक जीवन में विभिन्न अवसरों पर किया जाता है।

ऐतिहासिक रूप से आदिवासी समुदायों के पास संगीत का समृद्ध ज्ञान था, उनके वाद्ययंत्र उनके सांस्कृतिक जीवन का एक अनिवार्य हिस्सा हैं। तेलुगु क्षेत्र में गोंड, गोरवाय्यालु, बंजारा, नायकपोडु, कोया, गुट्टिकोया, कोंडारेलु आदि समुदाय अपने जीवन को समृद्ध करने के लिए संगीत का उपयोग करते हैं। प्रत्येक समुदाय का अपना विशिष्ट संगीत-वाद्ययंत्र होता है जो उनके आनुष्ठानिक और सांस्कृतिक जीवन का विस्तार करता है। वास्तव में 'भारतीय संगीत आमतौर पर या तो शास्त्रीय हिन्दुस्तानी संगीत का बोध कराता है या कर्नाटक शैली का। हम कभी भी इन संगीत-शैलियों की जड़ों और उत्पत्ति पर चिन्तन करने का प्रयास नहीं करते हैं। इन दोनों गायन-शैलियों से सम्बन्धित वाद्ययंत्रों के आगमन से पहले का युग सर्वोत्कृष्ट संगीतमय स्वर्ण युग है। हम इसे एक पुराना अध्याय मानते हैं। हम मानव जाति की लम्बे समय से चली आ रही संस्कृतियों को नज़रअन्दाज या अनदेखा करना चाहते हैं, जो पीढ़ियों से चली आ रही संगीत की धुनों और ध्वनियों को आत्मसात करती रही है।'[10]

बहुजन संगीत-वाद्ययंत्र और कला का संग्रहालय

संग्रहालयों, पुस्तकालयों, अभिलेखागारों और कला दीर्घाओं को इतिहास, विरासत और ज्ञान का स्रोत माना जाता है। हालाँकि, भारत में बहुसंख्यक या लगभग सभी संग्रहालय, पुस्तकालय, अभिलेखागार और कला दीर्घाएँ ब्राह्मणवादी और कुलीन सांस्कृतिक विरासत और इतिहास के दायरे हैं जो इन दायरों के माध्यम से संस्थागत वर्चस्व का विस्तार करते हैं। राज्य का वैचारिक तंत्र सार्वजनिक उपभोग के लिए कला, कलाकृतियों, विरासत की ब्राह्मणवादी धारणाओं को पुनरुत्पादित करना जारी रखता है। दलित समुदायों के इतिहास, उनके ग्रंथों, संगीत-वाद्ययंत्रों को सदियों से जान-बूझकर बहिष्कृत और अपमानित किया जाता रहा है।[11] अनेक कठिनाइयों के साथ इन स्वदेशी उपकरणों को एक पीढ़ी से दूसरी

पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है। जयधीर थिरुमल राव और गुडुरु मनोजा इस बात पर शोक व्यक्त करते हैं कि दलितों और आदिवासी समुदायों द्वारा उपयोग किए जाने वाले कई उपकरण सीधे उनके उत्पादन और श्रम जीवन से जुड़े होने के बावजूद महत्त्व नहीं पाते हैं। यह रेखांकित किया जाना आवश्यक है कि संगीत का शुद्ध और अशुद्ध विभाजन बहुजन समुदायों के संगीत जगत में नहीं है। बहुजन संगीत की परम्परा सदियों तक राज्य और अन्य संस्थाओं के संरक्षण के अभाव में भी जीवित रही। यह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि यह परम्पराएँ इन समुदायों के सांस्कृतिक जीवन में अन्तर्निहित हैं। इन परम्पराओं को संग्रहालयों, अभिलेखागारों और कला दीर्घाओं में दर्ज नहीं किया गया है। इसलिए दलित समुदाय की विरासत के संरक्षण के लिए संग्रहालयों और कला दीर्घाओं की आवश्यकता है।[12]

हालाँकि, इन संगीत-शैलियों की कोई लिखित परम्परा मौजूद नहीं है और इन वाद्ययंत्रों को बनाने की प्रक्रिया में प्रत्येक पीढ़ी ने अपने तरीक़े से सुधार किया है। *मूल ध्वनि* में सिद्दियों के संगीत का भी वर्णन किया गया है जिनके बारे में माना जाता है कि उन्हें विभिन्न स्थानों पर सेनाओं और सुरक्षा बलों में भर्ती करने के लिए राजाओं द्वारा लाया गया था। वे हैदराबाद, कर्नाटक, गुजरात और महाराष्ट्र आदि में फैले हुए हैं। उन्होंने इस्लाम धर्म को अपना लिया और अरबी, डफ, मारफा जैसे विभिन्न संगीत-वाद्ययंत्रों के इस्तेमाल को बढ़ावा दिया। 'पंबा' ऐसा ही एक युगल वाद्ययंत्र है जो पंबाला जाति द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। यह तेलुगु क्षेत्र में मालाओं की पुजारी जाति है। इसके दोनों किनारे चमड़े की खाल से मढ़े होते हैं। यह बाईं ओर हाथों से बजाया जाता है । दो पंबाओं को पंबाजोदु (जोड़ी) कहा जाता है और जमीदिका और श्रुति जैसे यंत्र पंबा के साथ बजाए जाते हैं, जहाँ एक व्यक्ति पंबा बजाता है वहीं दूसरा व्यक्ति अपने हाथों के तालू को बजाता है। इन यंत्रों से वे ग्रामीण देवी-देवताओं की कथा सुनाकर अपने अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं।

जीवन से निकलता नृत्य और संगीत

नृत्य और संगीत बहुजन समुदाय के जीवन के अभिन्न अंग हैं। भरतनाट्यम और कुचिपुड़ी के विपरीत, बहुजन समुदायों ने अपने नृत्य रूपों के लिए कोई नियम निर्धारित नहीं किया है, कलाकारों को नृत्य करने में पूर्ण स्वतंत्रता का आनन्द मिलता है। अधिकांश अवसरों पर स्त्री और पुरुष दोनों नृत्य में भाग लेते हैं।धिम्सा (जनजाति), चिंदता (दलित) और बथुकम्मा (बहुजन) इसके उदाहरण हैं। बहुजन समुदायों के नृत्य रूपों का अध्ययन अभी बाक़ी है। डप्पू जैसे संगीत-वाद्ययंत्र कई तरह की लय पैदा करते हैं जिन पर लोग प्रतिक्रिया करते हैं और ताल के चलते अपने शरीर को मोड़ लेते हैं। आदिवासियों के पास अद्वितीय संगीत-वाद्ययंत्र बनाने का विशेष कौशल और ज्ञान है। औजम वाद्ययंत्र कोंडारेलू जनजाति की एक महत्त्वपूर्ण कला है। कोंडारेलू के पुजारी भक्ति के साथ इस यंत्र को बनाते थे। औजम बनाने में पनासा (कटहल) या लगभग तीन फीट लम्बाई के 'करुम' वृक्ष के तने की ज़रूरत होती है। यह दो तरफ़ से सूखा और चौड़ा होता है लेकिन पकड़ने के लिए बीच का हिस्सा सँकरा होता है। ढाई इंच लम्बाई की लकड़ी के सात टुकड़े बीच में रस्सी से बँधे होते हैं। यंत्र में बारह छेद होते हैं। बढ़ी हुई ध्वनि के लिए अन्य साजों को शामिल किया जाता है।[13] रुंजा, रुंजावरु समुदाय का वाद्ययंत्र है। रुंजावरु समुदाय तेलुगु क्षेत्र में विश्वकर्माओं सुनार, लोहार, बढ़ई, पीतल का काम करने वालों और पत्थरकटों का एक अर्ध-ख़ानाबदोश हिस्सा है। रुंजा

एक अवनद्ध वाद्य है। विश्वकर्मा समुदायों ने 'रुंजा' नामक वाद्ययंत्र के साथ एक साहित्यिक संगठन भी शुरू किया।[14] वास्तव में संगीत का यह साजो-सामान और उपकरण इन समुदायों के लिए एक सांस्कृतिक प्रतीक बन गया है। केरल में पहले यह यंत्र ताड़ या नारियल के तने से तैयार किया जाता था। आधुनिक विकास के साथ रुंजा अब आमतौर पर लोहे या पीतल से तैयार किया जाता है। रुंजा वाद्ययंत्रों का उल्लेख एक हज़ार साल पहले *पलनाती वीरचरित्र, मोल्ला रामायणम* आदि में किया गया था। यह यंत्र मेक्सिको और अफ्रीकी देशों के आदिवासी वाद्ययंत्रों से भी मिलता-जुलता है।[15]

एक अन्य महत्त्वपूर्ण संगीत-वाद्ययंत्र डप्पू है। डप्पू को तेलुगु क्षेत्र में सबसे पुराने वाद्ययंत्र के रूप में जाना जाता है, जैसे तमिलनाडु में पराई। आकार, बनाने और बजाने के तरीक़े के आधार पर कई प्रकार के डप्पू होते हैं। जनजाति और अछूत डप्पू की भूमिका निभाते हैं। अछूतों में मडिगा का सम्बन्ध डप्पू से है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि तेलुगु राज्यों के हर गाँव में कई अवसरों पर डप्पू बजाया जाता है—जन्म, मृत्यु, विवाह, त्योहार और राजनीतिक आन्दोलनों में।[16] अरबी देशों में पुराने ज़माने में डप्पू को डफ़ के नाम से जाना जाता था। भारतीय राज्यों में इसे कर्नाटक में हलिगे, तेलुगु क्षेत्र में थापेटा, हिन्दी में डफली के नाम से जाना जाता है।[17] कुछ विलुप्त उपकरणों पर टिप्पणी करते हुए लेखक कहते हैं कि "विचित्रवीणा, और धातु कीनेरा स्वदेशी वाद्ययंत्र हैं। रुद्रवीणा को बजाना बन्द कर दिया गया था क्योंकि मुश्किल से ही इसे कोई बजा सकता था। केवल एक ही व्यक्ति जीवित है जो बुर्रावीणा बजा सकता है और आदिवासी बारह ल्यूट किनेरा को बजा सकता है। इसी तरह एक या दो ही व्यक्ति हैं जो कड्डी वाद्य बजा सकते हैं। ये सभी पुराने व्यक्ति हैं, नई पीढ़ी कई कारणों से संगीत को नहीं पकड़ पाई है, आर्थिक स्थिति उनमें से एक है।"[18] उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट रूप से इस बात की ओर इंगित करता है कि बहुजन समुदायों के लुप्त हो रहे वाद्ययंत्रों और परम्पराओं को रिकॉर्ड किया जाना चाहिए और अगली पीढ़ी को संगीत की दुनिया में उनके पैतृक योगदान के रूप में हस्तान्तरित किया जाना एक सांस्कृतिक आवश्यकता है। इसलिए इन उपकरणों का दस्तावेज़ीकरण केवल उपकरणों को संरक्षित करने का कार्य भर नहीं है, यह जीवन और ज्ञान को संरक्षित करने का एक कार्य है जिससे संगीत की दुनिया गुज़री है।

चमड़ा और संगीत-वाद्ययंत्रों का निर्माण

संगीत-वाद्ययंत्र बनाने में चमड़े की भूमिका ऐतिहासिक है। अधिकांश दलित संगीत-वाद्ययंत्र चमड़े से बने होते हैं। ब्राह्मणवादी विश्वदृष्टि में चमड़े को अशुद्ध माना जाता है। दलित समुदायों ने उसी अशुद्ध तत्त्व को भारतीय सभ्यता के विकास का आधार बनाया। चमड़े ने न केवल संगीत में बल्कि कृषि के समग्र विकास, सुरक्षा प्रणालियों और मनुष्यों के दैनिक जीवन में भी एक महान भूमिका निभाई है। डप्पू, नागर, ओग्गू, ढोलू, रुंजा, मृदंग, थबाला, थिथी वाद्य आदि वाद्ययंत्र चमड़े से बने होते हैं। यहाँ तक कि मृदंगम, जो शास्त्रीय संगीत परम्परा का एक हिस्सा है, वह भी चमड़े से तैयार किया जाता है, और उसे भी दलित बनाते हैं। फिर भी शास्त्रीय संगीत के विकास एवं उन्नयन में दलितों के योगदान को मान्यता नहीं दी गई है। मृत जानवरों की खाल से संगीत-वाद्ययंत्र बनाने के लिए ध्वनि और वाद्ययंत्र बनाने की प्रक्रियाओं का गहन ज्ञान होना आवश्यक है। *मूल ध्वनि* तर्क देती है कि दलित

समुदाय संगीत और संगीत-वाद्ययंत्र दोनों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि उनका उत्पादन उनके कलात्मक जीवन में शामिल हैं। यह उनके शारीरिक श्रम में शामिल हैं और वे प्रकृति के सबसे क़रीब हैं।[19] उन्होंने प्रकृति में उपलब्ध सभी संसाधनों का उपयोग संगीत-वाद्ययंत्रों सहित मानवीय आवश्यकताओं को रचनात्मक रूप से उत्पन्न करने के लिए किया है। इसलिए उनके उपकरण अवकाश में उपयोग करने के लिए अभिप्रेत भर नहीं हैं, इन उपकरणों में से अधिकांश का उपयोग उनके उत्पादक, सांस्कृतिक और आनुष्ठानिक जीवन में, और बाद में उनकी अन्दरूनी और बाहरी दुनिया की अभिव्यक्ति में किया जाता है। जयधर थिरुमाला राव का तर्क है कि इन उपकरणों के दस्तावेज़ीकरण में कई चुनौतियाँ हैं। हम इन उपकरणों की पहचान तभी कर सकते हैं जब हम मैदान में जाते हैं और वाद्ययंत्रों के निर्माताओं और कलाकारों के साथ सीधे बातचीत करते हैं क्योंकि यह वाद्ययंत्र और कलाकार तथाकथित मुख्यधारा के संगीत-परिदृश्य में कहीं दिखाई नहीं देते हैं। इसलिए इन समुदायों की सांस्कृतिक दुनिया को भीतर से समझना होगा। कई ऐतिहासिक कारणों से संगीत की यह परम्पराएँ लुप्त हो रही हैं। जब यह यंत्र ग़ायब हो जाते हैं, तो इन यंत्रों के साथ जुड़ा हुआ कौशल और ज्ञान भी बिना रिकॉर्ड के ग़ायब हो जाता है।

यह भी सच है कि वैश्वीकरण की तीव्र प्रक्रियाओं के कारण ये संगीत-परम्पराएँ ख़ुद को बचाए नहीं रख सकीं और न ही इन समुदायों के भीतर लोगों की नई पीढ़ियों को आकर्षित कर सकीं। इन संगीत-परम्पराओं और इसके निर्माताओं और कलाकारों को अभी भी गहन जुड़ाव के लिए संस्थागत और विश्वविद्यालयी दायरों में प्रवेश करना है। इसलिए विद्वानों को शायद ही उनके अध्ययन के लिए कोई पाठ्यसामग्री मिल पाती है। यद्यपि बहुजन महिलाएँ भी इन समुदायों के संगीतमय जीवन में भाग लेती हैं, अधिकांश वाद्ययंत्र पुरुषों द्वारा तैयार किए जाते हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रत्येक अवसर के लिए वे अलग-अलग धुन बजाते हैं। विवाह के लिए निर्धारित ताल ग्राम देवता के उत्सव और मृत्यु अनुष्ठान आदि के लिए निर्धारित ताल से बिलकुल अलग है। इसलिए इसका अध्ययन करना रोचक हो जाता है कि प्रत्येक ताल के साथ किस तरह का सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थ जुड़ा हुआ है।

संगीत का सामाजिक महत्त्व : दलित, सामाजिक पहचान और संगीत का प्रदर्शन

डप्पू मडिगाओं के सामुदायिक जीवन का केन्द्र है। यही वह उपकरण है जो मडिगा समुदाय को अद्वितीय और सम्पूर्ण बनाता है। मडिगाओं की आत्मिक गवाहियों में डप्पू को भारतीय कला और संस्कृति में सबसे प्राचीन और नायाब साधन के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता रहा है। डप्पू बनाना एक वैज्ञानिक गतिविधि है। लकड़ी की एक पट्टी एक अँगूठी बनाने के लिए मुड़ी हुई होती है, जिसमें चमड़े की रस्सी होती है जो दोनों सिरों को एक साथ बाँधे रखती है। लकड़ी की अँगूठी में छेद बने होते हैं और चमड़े का एक अत्यधिक संशोधित टुकड़ा एक तरफ़ सिल दिया जाता है। जैसे ही चमड़ा सूख जाता है, यह तन जाता है और थोड़े-से स्पर्श से संगीतमय ध्वनि उत्पन्न करता है। भारतीय इतिहास में डप्पू को हमेशा अछूत समुदायों के जीवन की लय के रूप में चित्रित किया गया है।

डप्पू बजाना ज़्यादातर एक सामूहिक प्रक्रिया है लेकिन इसे कभी-कभी एक व्यक्ति एक ही लय के साथ बजा सकता है। डप्पू की लयबद्ध ध्वनि से पूरा गाँव सतर्क हो जाता है

और इससे गाँव अपने सांस्कृतिक जीवन में लौट आता है। केशव कुमार डप्पू का सार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'डप्पू की थाप ब्राह्मणवादी संस्कृति के ख़िलाफ़ हाशिये के लोगों की संस्कृति का उत्सव है।'[20] कांचा इलैया का तर्क है कि डप्पू एकमात्र ऐसा वाद्ययंत्र है जो सभी समुदायों के उत्साह, आनन्द और विश्राम के लिए पितृसत्तात्मक बाधाओं पर विजय पाने वाले पुरुषों और महिलाओं द्वारा बजाया जाता है। डप्पू अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कार्य करता है चाहे वह ख़ुशी के माहौल में हो या शोक के माहौल में जैसे कि शादियों में, घर के शुभ कार्यों में, बच्चे के जन्म के उत्सव में और मृत्यु के विलाप में भी।[21]

कांचा इलैया ने अपनी पुस्तक *पोस्ट-हिन्दू इंडिया* में लोगों के जीवन पर डप्पू के महत्त्व और प्रभाव का वर्णन किया है। वह रेखांकित करते हैं कि खेत में काम करने वाले या आसपास के चरागाहों और जंगलों में अपने मवेशियों को चराने वाले गाँव के लोग डप्पू की धुन से पता लगा सकते हैं कि यह शादी का जश्न है या कोई किसी की मौत का शोक मना रहा है अथवा वह कोई घोषणा कर रहा है। अगर घोषणा किसी की मृत्यु के बारे में होती थी, तो लोग अपना काम छोड़ दिया करते थे और जाति की रेखाओं के बावजूद अन्तिम संस्कार के जुलूस में शामिल हो जाया करते थे। डप्पू के पास कलाकार के अनुसार ध्वनियों का अपना विशिष्ट रूप है।[22] केशव कुमार डप्पू के सभी प्रदर्शनों को देखकर एक अद्वितीय डप्पू-नृत्य के रूप का ज़िक्र करते हैं जिसे डप्पू प्रेरित करता है। 'अदुगु, मदील डप्पू, गुंडम डप्पू, अता डप्पू, ओक्का सिर्रा डप्पू, जमीदिका डप्पू' इनमें प्रमुख प्रदर्शन हैं जो मूल रूप से झंकारों के अनुसार पाँवों की थिरकन पर आधारित होता है। इसलिए, यह दावा करना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि डप्पू एक ऐसा प्रारम्भिक साधन बन गया है जो आधुनिक समय में भी ग्रामीण भारत में एक त्वरित सन्देशवाहक की भूमिका अदा करता है। इसलिए कोई भी आधुनिक संगीत-वाद्ययंत्र इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता है या डप्पू की स्थिति को प्रतिस्थापित नहीं कर सकता है। डप्पू समाज के भीतर और विशेष रूप से मडिगाओं के बीच सांस्कृतिक जुलूस में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस सम्बन्ध में सांबैया गुंडीमेडा स्पष्ट करती हैं कि मडिगा महिलाओं के जीवन में डप्पू एक केन्द्रीय स्थान रखता है।[23]

उदारवादी और सामाजिक परिवर्तन की राजनीति ने सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों में व्यापक रूप से डप्पू का उपयोग किया। भारतीय कम्युनिस्ट और वामपंथी आन्दोलन के उदय के साथ, लोककथाओं का उपयोग राजनीतिक अभिव्यक्ति के लिए किया जाने लगा। इन आन्दोलनों में कई लोकगीत-रूपों, कलाकारों और संगीत-वाद्ययंत्रों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए 1920 के दशक की शुरुआत में तेलंगाना में, निजाम शासन के तहत तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष शुरू हुआ। इस आन्दोलन के दौरान दलित और बहुजन समुदाय के कलाकारों ने अपनी लोक कलाओं का इस्तेमाल किया। नज़र जैसे महान कलाकार ने अपनी 'बुर्रा कथा' के माध्यम से गाँव-गाँव जाकर सशस्त्र संघर्ष का सन्देश फैलाया, लोगों को संगठित किया। इस राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया में लोक परम्पराओं की सामग्री लोगों की आवाज़ में मिलकर मौलिक रूप से बदल जाती है। समता के सन्देश को फैलाने के लिए लोकनाट्य संस्कृति का भी व्यापक रूप से उपयोग किया गया।[24] इसे हम महाराष्ट्र में राजनीतिक संघर्ष करते हुए अन्ना भाऊ साठे के जीवन और साहित्य के द्वारा समझ सकते हैं। अन्ना भाऊ साठे 1940-50 के दशक के दौरान महाराष्ट्र के एक महान साहित्यकार, गायक और कलाकार थे, जिन्होंने जवानी के दिनों में लोकनाट्य, लावणी, जलसा, और पवाड़ा को लोकप्रिय बनाया। ये सभी लोकरूप सामाजिक आन्दोलनों

को आगे बढ़ाने के लिए संस्कृतिकर्मियों एवं आम जनता द्वारा व्यवहार में लाए जाते हैं। इसी प्रकार जलसा मनोरंजन के लिए एक पारम्परिक लोक प्रदर्शन है। हालाँकि, अन्ना भाऊ साठे ने इन लोक रूपों की सामग्री को बदल दिया और उसमें क्रान्तिकारी सन्देश भर दिया। अन्ना भाऊ साठे माँग जाति से थे। माँग जाति पारम्परिक रूप से ढोल, हारमोनियम, शहनाई आदि बजाकर अपनी जीविका चलाती रही है।[25]

1960 के दशक के मध्य में तेलुगु क्षेत्र में क्रान्तिकारी राजनीति ने लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया। तेलंगाना क्षेत्र में लोगों के जीवन के हर पहलू पर नक्सली आन्दोलन का बड़ा प्रभाव था। नक्सली आन्दोलन को फैलाने के लिए जन नाट्यमंडली, प्रजा नाट्य मंडली जैसे कई सांस्कृतिक संगठनों का गठन किया गया था। इसके अधिकांश गायक, कलाकार और वाद्यवादक दलित जातियों के थे।[26] तबले के साथ-साथ प्रत्येक कलात्मक समूह में डप्पू को एक वाद्ययंत्र के रूप में उपयोग करना अनिवार्य ही था। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ डप्पू बजाने वाले व्यक्ति के साथ उस वाद्य का नाम ही जोड़ दिया गया, उदाहरण के लिए 'डप्पू रमेश'। कई दलित कलाकारों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए कई कलात्मक रूपों का सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया। इससे जो जनशक्ति उभरी, वह आमूल परिवर्तनकारी थी। यह जनशक्ति 'मरोजू वीराना समूह' के भीतर देखी जा सकती है जब 'कुलाला संस्कृति' को चरमपंथी राजनीति के एजेंडे में लाया गया।[27] इसी बीच 1985 में प्रकाशम ज़िले में करमचेडु नरसंहार हुआ। करमचेडु की घटना के जवाब में आन्ध्र क्षेत्र में आधुनिक दलित आन्दोलन का उदय माना जाता है। दलित लेखकों ने अंबेडकरवादी दृष्टिकोण या संगठन के साथ दलित सांस्कृतिक रूपों का आह्वान किया। इसके बाद कई दलित सांस्कृतिक संगठन बने। 1994 में अनुसूचित जाति आरक्षण के उप-वर्गीकरण के लिए मडिगा समुदाय द्वारा मडिगा आरक्षण पोराटा समिति[28] या 'डंडोरा आन्दोलन' शुरू किया गया। यह आन्दोलन मडिगा सांस्कृतिक रूपों के तहत उभरा। इस समय डंडोरा का एक राजनीतिक आशय भी था। इसका अर्थ है घोषणा। मडिगा पारम्परिक रूप से डप्पू बजाकर गाँव में औपचारिक और अनौपचारिक जानकारी की घोषणा करते हैं। इसलिए डंडोरा आन्दोलन के साथ मडिगा जनों ने समानता, गरिमा और मानवाधिकारों के लिए ज़ोर देना और संघर्ष करना शुरू कर दिया। तेलंगाना के गीतकारों जैसे गदर,[29] गोरती वेंकन्ना,[30] विमलक्का[31] और जया राजू[32] आदि ने लोगों के लोकतांत्रिक आन्दोलनों में प्रतिरोध के माध्यम के रूप में डप्पू के क्रान्तिकारी रूप को लाने के लिए उल्लेखनीय प्रयास किए हैं। यह तथ्य उस लोकप्रिय धारणा के विपरीत है जो दावा करती है कि भाषा, गीत, संगीत और कला का विकास केवल अवकाश के क्षणों के लिए हुआ है। वास्तव में संगीत और कला श्रम और उत्पादन की जैविक अभिव्यक्ति हैं। सुधाला अशोक तेज़ा[33] अपने एक गीत में यह भाव प्रकट करते हैं कि दलितों के बीच 'पानी और पत्ता' (काम और गीत) एक सामान्य घटना है और यह बहुजन-दर्शन का हिस्सा हैं और उत्पादक समुदायों पर विशेष रूप से भारत में कारीगर समुदायों पर अभिव्यक्ति की एक जैविक प्रक्रिया के रूप में काम करते हैं।

प्रतिरोध के प्रतीक के रूप में वाद्ययंत्र : डप्पू

यह परिधीय जनता के सामाजिक दावों को मज़बूती प्रदान करता है। मडिगा समुदाय के निरन्तर प्रयासों और कई विद्वानों द्वारा इसके सामाजिक उपयोग से डप्पू का अभूतपूर्व प्रसार

हुआ। डप्पू बनाना आज भी मडिगा समुदाय की एक तकनीकी-आर्थिक गतिविधि है। प्राय: डप्पू सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका निभाने लगता है, वह उत्पादन और प्रजनन के काम में खोई हुई ऊर्जा के एक प्रेरक की तरह हमारे समक्ष आता है। जब इतने सारे आधुनिक संगीत-वाद्ययंत्र उपलब्ध हैं तब भी तेलुगु प्रदेश में डप्पू आज भी एक बृहत् सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करता है। लोकतांत्रिक संघर्षों के उभार ने डप्पू को प्रतिरोध के प्रतीक के रूप में परिवर्तित कर उसे सामाजिक आन्दोलनों के साथ लाकर खड़ा कर दिया है।

डप्पू को कभी भी संचार के माध्यम के रूप में मान्यता नहीं मिली। भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक प्रतिरोध और प्रभुत्व हमेशा साथ-साथ चलते रहे हैं। ब्राह्मणवादी संस्कृति को भारतीय शास्त्रीय संस्कृति के रूप में माना जाता रहा है और दलितों की संस्कृति को 'जीववादी' रूप में चिह्नित किया जाता है और इसे लोककथाओं के साथ नत्थी कर दिया जाता है। मन्दिर के बाहर की दुनिया में कला, संस्कृति और साहित्य को निचले लोगों की संस्कृति माना जाता है। इसलिए ब्राह्मणवादी संस्कृति को सम्मान के साथ उच्च वर्चस्व भी हासिल हुआ और निचली जातियों की संस्कृति को एक नर्क में छोड़कर उसे संकुचित कर दिया गया। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान वीणा और मुरली को लोगों की प्रेरणा के लिए सांस्कृतिक साधन के रूप में पेश किया गया और बच्चों का नाम उनके नाम पर रखा गया। सरकार सांस्कृतिक एकीकरण बोर्डों की भर्ती करती है और विभिन्न धाराओं के कलाकारों को पुरस्कार और वित्तीय सहायता से सम्मानित करके सांस्कृतिक मूल्यों को बढ़ावा देती है जबकि डप्पू को न तो संचार के माध्यम के रूप में राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में मान्यता मिली और न ही सामाजिक सम्मान मिल सका। इसलिए एक समावेशी राष्ट्र निर्माण के लिए संगीत की दुनिया में दलितों और उनके वाद्ययंत्रों के योगदान को पहचाना जाना अभी बाक़ी है।

वास्तव में दलित संगीत-परम्पराओं का अध्ययन हमें संगीत और उसके प्रदर्शन के प्रति दलितों के योगदान को स्वीकार करने और उसका दस्तावेज़ीकरण करने में सक्षम बनाता है। संगीत का प्रदर्शन और दलितों द्वारा विभिन्न वाद्ययंत्रों का सृजन स्पष्ट रूप से हमें संगीत की समृद्ध परम्पराओं की ओर ले जाता है। इससे हमारा संगीत ज्ञान और अधिक लोकतांत्रिक बनता है। यह प्रक्रिया दलित संगीत कलाकारों की सामाजिक पहचान को धूमिल न होने देने में सक्षम बनाती है।

सन्दर्भ

1. इस लेख को हिन्दी में अनूदित करने के लिए मैं सुश्री देबांजना नाग और सुश्री माला तिवारी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।
2. गोगु श्यामला, के. पुरुषोत्तम और वी. गीतारामस्वामी (2017).
3. प्रसिद्ध डप्पू कलाकार कुम्पति सूर्य भगवंत राव के साथ साक्षात्कार। उन्होंने तीन हज़ार से अधिक डप्पू कलाकारों को प्रशिक्षित किया है। हालाँकि वे औपचारिक रूप से शिक्षित नहीं हैं लेकिन उन्होंने पोट्टी श्रीरामुलु तेलुगु विश्वविद्यालय में लोककथाओं के विभाग में कई स्नातकोत्तर छात्रों के लिए 25 से अधिक वर्षों तक डप्पू के मंचन को पढ़ाया है।
4. 'बियोंड फ़ोकलोर' विषय पर ए.एस. अजित कुमार के साथ चर्चा : https://www.youtube.com/watch?v=v5tC7GN26Vg 30 अगस्त, 2021 को देखा गया।
5. एंडी भास्कर, जितेंद्र सुना, प्रशांत इंगोले, कल्याणी के साथ चर्चा, यूट्यूब वीडियो लिंक https://

www.youtube.com/watch?v=rhBDZoWMf0o 25 अगस्त, 2021 को देखा गया।

6. ए. रमेश (2019, जनवरी, 2) https://www.thehindu.com/entertainment/art/vaa-nam-arts-festival-an-education-on-the-dalit-movement/article25888609.ece
7. वी. कुमार (2020), 'दलित आर्टिस्ट चैलेंजिंग कास्टिज़्म थ्रू म्यूज़िक' https://feminisminindia.com/2020/04/15/dalit-artists-challenging-casteism-music-films-literature/ 25 अगस्त, 2021 को देखा गया।
8. वाज चंद, यू. (2017) 2 अगस्त। https://scroll.in/magazine/844792/from-dnyaneshwari-to-dalit-rock-the-evolution-of-maharashtras-revolutionary-music 25 अगस्त, 2021 को देखा गया।
9. थिरुमाला राव, जे., मनोजा, जी. (2019), ix.
10. वही, चार-पाँच।
11. https://theprint.in/opinion/ashoka-to-vijayadashami-national-archives-central-libraries-failed-dalit-bahujan-history/693310/ 25 अगस्त, 2021 को देखा गया।
12. जयधर थिरुमाला राव और गुडुरु मनोजा वीडियो लिंक के साथ साक्षात्कार : https://www.youtube.com/watch?v=Zi1KjfjCcH4
13. थिरुमाला राव, जे., मनोजा, जी. (2019), 86.
14. 19 जुलाई, 2021 को हैदराबाद में इंद्रवेल्ली रमेश के साथ साक्षात्कार। इंद्रवेल्ली रमेश एक लेखक और बुद्धिजीवी हैं जो विश्वकर्मा के रुंजा साहित्यिक संगठन में सक्रिय रूप से शामिल हैं।
15. थिरुमाला राव, जे., मनोजा, जी. (2019), 59-60.
16. वही, 33.
17. वही, 34.
18. वही, 2.
19. टी. एम. कृष्णा (2020).
20. केशव पी. कुमार (2009) 1 अप्रैल http://untouchablespring.blogspot.com/2009/04/dappu-symbol-of-dalit-protest-dr.html#links 25 अगस्त, 2021 को देखा गया।
21. कांचा इलैया (2009), 44-45.
22. वही, 45.
23. एस. गुंडीमेडा (2000), 42.
24. केशव पी. कुमार (2010), 61-67.
25. मिलिंद अवाड (2010), 1-14.
26. ब्रह्मा प्रकाश (2019).
27. मल्लैया (2011).
28. मडिगा जाति अनुसूचित जाति के आरक्षण के उप-वर्गीकरण की माँग कर रही है। उनका दावा है कि आरक्षण का अधिकांश लाभ मालाओं को जाता है इसलिए सभी अनुसूचित जातियों को आरक्षण के समान वितरण के लिए, मडिगाओं ने एमआरपीएस नामक एक आन्दोलन शुरू किया जिसे लोकप्रिय रूप से डंडोरा के नाम से जाना जाता है। मडिगा पारम्परिक रूप से चमड़े का काम करते हैं डप्पू बजाते हैं।
29. क्रान्तिकारी तेलुगु लेखक, गायक और गीतकार जो अपने गीतों से हज़ारों लोगों को प्रेरित और संगठित करते हैं।
30. तेलंगाना में एक क्रान्तिकारी तेलुगु लोक गायक और लेखक।

31. एक क्रान्तिकारी महिला जो तेलंगाना में जन-आन्दोलनों के लिए गीत लिखती और गाती है।
32. तेलंगाना में समकालीन तेलुगु लोक गायक।
33. तेलंगाना में एक क्रान्तिकारी तेलुगु लेखक और गायक।

सहायक ग्रंथ

एस. गुंडीमेडा (2000), *द इमरजेंस ऑफ़ सब-कास्ट आइडेंटिटी एंड कांशसनेस अमंग द दलित्स इन आन्ध्र प्रदेश*, एम.फ़िल शोध प्रबंध, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

कांचा इलैया (2009), *पोस्ट-हिन्दू इंडिया : अ डिस्कोर्स ऑन दलित-बहुजन, सोशियो-स्प्रिचुअल एंड साइंटिफिक रिवोल्यूशन*, सेज, नई दिल्ली।

केशव पी. कुमार (2010), 'पॉपुलर कल्चर एंड आइडियोलॉजी : द फेनोमेनन ऑफ़ गदर', *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, फरवरी 13, वॉल्यूम XLV, नम्बर 7।

गोगु श्यामला, के. पुरुषोत्तम और वी. गीतारामस्वामी (2017), *तेलुगु दलित लिटरेचर*, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

टी. एम. कृष्णा (2020), *सेबस्टियन एंड संस : अ ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ मृदंगम*, कांटेक्स्ट, चेन्नई।

थिरुमाला राव, जे., मनोजा, जी.(2019), *मूल ध्वनि : सोशल हिस्ट्री ऑफ़ फ़ोक इंस्ट्रूमेंट*, तेलंगाना रचयताला वेदिका, निज़ामाबाद।

ब्रह्मा प्रकाश (2019), *कल्चरल लेबर : कॉन्सेप्चुलाइज़िंग द फोक परफ़ार्मेंस इन इंडिया*, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मल्लैया (2011), *कामरेड वीरन्ना*, अनु प्रकाशन, स्थान रहित।

मिलिंद अवाड (2010), *द लाइफ एंड वर्क ऑफ़ अन्नाभाऊ साठे : अ मार्क्सिस्ट मोज़ेक*, गौर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली।

शिक्षा, ज्ञान और समाज का समकाल

सतीश देशपांडे का साक्षात्कार

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे (जन्म 1958) दिल्ली विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र पढ़ाते हैं। इससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे भारत के उन चुनिन्दा जन-बुद्धिजीवियों में हैं जो देश की जनता के एक बड़े हिस्से की आशा, आकांक्षा, सफलता और असफलता के बारे में सार्वजनिक दायरों में लगातार हस्तक्षेप करते रहे हैं। उनके लेख और निबन्ध देश-विदेश के प्रमुख अख़बारों और जर्नलों में छपे हैं जिनसे विद्यार्थियों की कई पीढ़ियों ने लिखना, तर्क करना और बहसबाज़ी सीखी है। प्रोफ़ेसर देशपांडे की रुचि जाति और वर्ग, उससे उपजी विषमताओं, समकालीन सामाजिक सिद्धान्त, समाजविज्ञान के इतिहास और उसकी राजनीति के अध्ययन में है। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र से एम. ए. (1981), कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय, सांता क्रूज़ से समाजशास्त्र में एम. ए. (1988) और पी-एच.डी. (1991) की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। प्रोफ़ेसर देशपांडे ने 'कंटेम्पोरेरी इंडिया : अ सोशियोलॉजिकल व्यू' (2003) और घनश्याम शाह, हर्ष मन्दर, सुखदेव थोराट तथा अमिता बाविस्कार के साथ *अनटचेबिलिटी इन रूरल इंडिया* जैसे ग्रंथों का लेखन किया है। उनके लेख 'द हिन्दू', 'इंडियन एक्सप्रेस', 'आउटलुक', 'कारवाँ', 'इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली' और 'द वायर' आदि में छपते रहे हैं। अपने इन लेखों के माध्यम से उन्होंने विश्वविद्यालय की अवधारणा को न केवल विस्तृत किया है बल्कि सार्वजनिक बहसों का स्तर ऊपर उठाने में मदद दी है। *सामाजिकी* के लिए उनसे यह बातचीत रमाशंकर सिंह ने की है। 'ज़ूम एप' पर लिये गए इस साक्षात्कार का लिप्यंतरण सुश्री देबंजना नाग ने किया है।

रमाशंकर सिंह : प्रोफ़ेसर देशपांडे, आपने दो विषयों में एम. ए. किया है, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र। 1970-80 के दशक में आपने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और संयुक्त

राज्य अमेरिका के कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में पढ़ाई की। ये दोनों विश्वविद्यालय देश-दुनिया में बहुत शानदार विश्वविद्यालय माने जाते हैं। आप अपने बारे में कुछ बताइए और भारत की बौद्धिक दुनिया में आपका प्रवेश कैसे हुआ?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : मैं अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में थोड़ा-बहुत बता दूँ। मेरे परिवार में मेरी पहली पीढ़ी शहर में पली-बढ़ी है। मेरे माँ-बाप दोनों वैसे तो शहर में रहे लेकिन शहर में वे पूरी तरीक़े से वयस्क होने के बाद ही आए थे। उनका जन्म गाँव में हुआ था और वह बड़े होने तक गाँव में थे। ग्रामीण संस्कृति से शहरी संस्कृति में प्रवेश करने वाली यह मेरे परिवार की पहली पीढ़ी थी।

मेरे पिता इंजीनियर थे और वह इस्पात कारख़ानों में काम करते थे। मेरा जन्म धारवाड़ ज़िले के एक छोटे से क़स्बे में हुआ जिसका नाम नवलपुर है। वह किसी गाँव से बड़ा है लेकिन शहर से छोटा है तो उसे क़स्बा ही कह सकते हैं। हमारे देश में जो क़स्बे होते हैं, उसका भी लम्बा इतिहास होता है। अगर आप इतिहास में देखेंगे तो नवलपुर क़स्बे का दो-तीन शताब्दी पुराना इतिहास पाएँगे। वह छोटा-सा क़स्बा है, लेकिन मेरा जन्म ही मात्र वहाँ हुआ, उसके बाद मैं पला-बढ़ा मध्य प्रदेश में। मतलब उस ज़माने के मध्य प्रदेश में और फिर उस ज़माने के बिहार में यानी बोकारो में। हम लोग एक ऐसे इलाक़े से आते हैं जो महाराष्ट्र और कर्नाटक के सीमान्त पर बसा हुआ है। तो हमारे विस्तृत परिवार में दो भाषाएँ चलती हैं : मराठी और कन्नड़। मेरी मातृभाषा कन्नड़ थी और घर में हम लोग सिर्फ़ कन्नड़ बोलते थे, और इसी भाषा के साथ हम लोग रहते थे उत्तर भारत में। इसीलिए बाहर की भाषा तो हिन्दी थी ही—अलग-अलग तरह की हिन्दी। और 1960 के दशक में हम लोग भिलाई से बोकारो पहुँचे, तब मैं चौथी कक्षा में था।

एक तरह से मेरी किशोरावस्था बिहार में बीती। उसके बाद मेरे पिता ने मुझे बहुत संकोच के साथ पढ़ने भेजा और वह भी बहुत डरते-डरते, एक कॉन्वेंट स्कूल में। उनके साथ के लोग जो थे उन्होंने मेरे पिताजी को बहुत समझाया कि बच्चे को अंग्रेज़ी स्कूल में भेज दीजिए। आप जानते ही हैं कि अंग्रेज़ी का यहाँ बाज़ार गर्म रहता है हमेशा, तो इसलिए मुझे वहाँ भेजा गया। मुझे जिस स्कूल में भेजा गया, वहाँ ऑस्ट्रेलिया के पादरी लोग आए हुए थे और वही हमें पढ़ाते थे। इसका बहुत फ़र्क़ पड़ा क्योंकि मुझे अंग्रेज़ी एक तरह से विरासत में मिल गई। और वह भी केवल अच्छी अंग्रेज़ी नहीं, एकदम 'अंग्रेज़ों वाली अंग्रेज़ी' यानी अभिजात अंग्रेज़ी, वैसे संस्कार और पृष्ठभूमि से मैं अभिजात संस्कृति से बिलकुल परिचित नहीं था, लेकिन अभिजात संस्कृति की एक चीज़ अंग्रेज़ी, मेरे हाथ आ गई थी।

और यह घटना इसलिए घटी क्योंकि मेरा स्कूल तीन पादरियों द्वारा चलाया जाता था जो अपनी पाठशाला को पूरी तरह से समर्पित थे और उन्होंने बड़ी लगन से हमें सिखाया। उस समय हमें पता नहीं था कि हमें क्या मिल रहा है लेकिन बाद में हमें पता चला कि बाज़ार में इसकी इतनी पूछ है।

तो जब यहाँ मेरे नम्बर अच्छे आए तो बात हुई कि लड़के को दिल्ली भेजिए। मेरे पूरे परिवार में दिल्ली के डेढ़ हज़ार किलोमीटर के पास भी कोई पढ़ने नहीं गया था। मेरा दाख़िला सेंट स्टीफ़ेंस कॉलेज में हो गया तो वहाँ मुझे सबसे पहला कल्चरल शॉक या सांस्कृतिक सदमा लगा। पहली बार ऐसे लोगों से आमना-सामना हुआ जो अभिजात संस्कृति में पूरी तरह से पगे हुए थे। वे अमीर घराने के बड़े-बड़े स्कूलों में पढ़े हुए लोग थे। और यह हमारी

विडंबना है कि बिहार में हम लोग मद्रासी कहलाते थे और जब हम दिल्ली आए तो हम बिहारी कहलाने लगे।

तो दिल्ली आते-आते मुझे यह एहसास हो गया था कि हमारे यहाँ बहुत सारी प्रादेशिक या सांस्कृतिक भिन्नता है, बहुत सारी ऊँच-नीच की भावनाएँ हैं। इन सबसे मैं परिचित हुआ तो इस तरह से मैं दिल्ली पहुँच गया और उसके बाद जो सिलसिला था, वह पूरे तरीक़े से बदल गया क्योंकि इस तरह की जो अभिजात शिक्षा मुझे मिली, वह एक तरीक़े से रेल की पटरी जैसी है, जैसे आप इस तरह की संस्थाओं में पहुँच जाइए तो उसके बाद वह पटरी जहाँ जाती है, वहाँ आप पहुँच जाते हैं।

उस ज़माने में लड़कों को डॉक्टरी या इंजीनियरिंग करना ज़रूरी था। अगर आप डॉक्टर या इंजीनियर नहीं बने तो तीसरा विकल्प लफंगा बनने का होता था। मतलब जो डॉक्टर या इंजीनियर न हो, लड़का वह भी घर का सबसे बड़ा लड़का, वह अगर साइंस न पढ़े तो यह बहुत बड़ा हादसा होता था।

मेरी माँ पूरे वर्ष-भर रोई जब मैंने साइंस की जगह आर्ट्स की पढ़ाई शुरू की लेकिन इसके बाद मेरे स्कूल के प्रिंसिपल ने उन्हें बहुत समझाया तो इस तरह से मैं अर्थशास्त्र पढ़ने दिल्ली आया और फिर जेएनयू गया और जेएनयू में मैंने आधी पी-एच.डी. भी कर ली थी इकोनॉमिक्स में, सेंटर फॉर डेवलपमेंट स्टडीज में।

रमाशंकर : आप आपातकाल के दौरान भी काफ़ी सक्रिय रहे थे, तो आपने उस समय के भारत को किस प्रकार रूप लेते हुए देखा है? आपातकाल के दौरान आप क्या कर रहे थे?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : मैं 1974 में दिल्ली आया बी. ए. करने के लिए, 1977 में मेरा बी.ए. ख़त्म हुआ। उस समय इमरजेंसी भी लगी थी। इमरजेंसी से हम लोग बहुत प्रभावित थे। इमरजेंसी के दौरान भी हम लोगों ने काम किया। तीस-चालीस लोगों का एक समूह था। हमारे कॉलेज में जो प्रचार वग़ैरह का काम करते थे, रात को जाकर चुपके से बस स्टैंड में पोस्टर वग़ैरह चिपकाते थे और फिर जब इलेक्शन का ऐलान हुआ तो हमने इलेक्शन में भी प्रचार का काम किया सरकार के ख़िलाफ़, उस समय की इंदिरा गांधी सरकार के ख़िलाफ़ और यहीं पर राजनीति से पहली बार आमना-सामना हुआ। उस समय वॉलंटियरिंग एजेंसियों का बोलबाला था। आज उसे एनजीओ कहते हैं पर उस समय उसे वॉलंटियरिंग एजेंसी कहते थे। तो मैं गाँव में काम करने राजस्थान चला गया। दो वर्ष मैंने गाँव में काम किया 1977 से 1979 तक और फिर 1979 में जेएनयू गया और फिर जेएनयू के बाद त्रिवेंद्रम गया जहाँ मैं पी-एच.डी. कर रहा था। उसके बाद पिताजी बीमार पड़े तो मुझे नौकरी करनी पड़ी तो फिर मैं वापस दिल्ली आ गया।

इसी बीच मेरी शादी हो गई। मेरी पत्नी जेएनयू में मेरी सहपाठी थीं और वह क्रिश्चियन थीं और हमारे परिवार में उपजाति के बाहर भी कभी कोई शादी नहीं हुई, धर्म के बाहर शादी की बात अकल्पनीय थी। तो फिर बहुत बवाल हुआ। उनके परिवार में भी बहुत बवाल हुआ क्योंकि उनके पिताजी पादरी थे। दोनों परिवारों के लिए बहुत बड़ी समस्या हो गई तो हमने कहा कि हम लोग विदेश चले जाते हैं आगे पढ़ने के लिए तो इस समस्या से छुटकारा मिल जाएगा। इसके बाद दोनों परिवार मान गए। 1985 में हम लोग पी-एच.डी. करने अमेरिका गए और फिर पी-एच.डी. ख़त्म हुई और फिर मैंने हैदराबाद में पढ़ाया और फिर हम दिल्ली आ गए।

हम अलग-अलग संस्थाओं में थे और आज तक दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाना हुआ तो अलग-अलग प्रान्तीय या भाषायी जो विभिन्नता है, हमारे देश की और इस तरह से आप कहिए कि जो अभिजात वर्ग और सामान्य वर्ग कहलाते हैं, उनसे मेरा परिचय हुआ। दो वर्ष तक मैंने गाँव में भी काम किया, राजस्थान में। इस प्रकार तब तक काफ़ी तजुर्बा हो चुका था कि जिसे हम एक देश कहते हैं, उसमें कितने सारे देश हैं और कितने सारे संसार हैं। अलग-अलग वर्गों के अलग-अलग प्रान्तों के, अपनी-अपनी संस्कृति और इसीलिए भौगोलिक रूप से समीप होते हुए भी वह हर दूसरी तरह से मीलों दूर है एक-दूसरे से। इसका एहसास मुझे यहीं आकर हुआ।

रमाशंकर : जैसाकि आपने बताया कि आपका अनैच्छिक रूप से अंग्रेज़ी अभिजात संस्कृति में दाख़िला हुआ और सेंट स्टीफ़ेंस में आने के बाद आपको लगा कि आपकी अंग्रेज़ी बहुत अच्छी है। मैंने आपका एक लेख पढ़ा था जो *प्रतिमान* में छपा था, उसको पढ़ते हुए यह लगा कि सतीश देशपांडे के समाजविज्ञान में कई परतें हैं जो उनके निजी अनुभवों से जुड़ी हैं। वह कन्नड़भाषी हैं, वह बिहार में रहे, फिर दिल्ली में और कैलिफ़ोर्निया में भी। इन सारे संस्थानों में पढ़ते-पढ़ाते हुए क्या आपको ऐसा कभी लगा कि भारत में जो समाजविज्ञान विकसित हुआ, वह यूरोप और अमेरिका के समाजविज्ञान से अलग है? क्या हिन्दी में और भारतीय भाषाओं में विकसित हुए समाजविज्ञान की अपनी कुछ मौलिकता है?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : यह बहुत पेचीदा सवाल है और इसके कई आयाम हैं। मैं इसमें काफ़ी रुचि रखता हूँ तो हो सकता है कि मुझ जैसे लोगों के लिए इसमें कई तहें नज़र आती हों। मेरी सारी ज़िन्दगी भाषा के सवाल से जुड़ी हुई है और यह हमारे देश में आम बात है। किसी भी व्यक्ति का तीन-चार भाषाओं के साथ आत्मीय रिश्ता होना यहाँ कोई अचरज-भरी बात नहीं है, ख़ासकर उन लोगों के साथ जिनका एक पैर दक्षिण में और दूसरा उत्तर भारत में रहता है।

जो उत्तर और दक्षिण के बीच की दरार है, वह पूरब-पश्चिम में इतनी ज़्यादा नहीं है। कथित उत्तर भारत में भी बहुत सारे प्रान्त हैं, अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं। मुझे लगता है कि उत्तर भारत में या उत्तर-दक्षिण में जो इस तरह का फ़ासला है, वह शायद सबसे ज़्यादा है। उत्तर-पूर्व की बात और है। उसका एक ख़ास इतिहास है। तो मुझे शुरू से ही इस बात का एहसास रहा है कि हिन्दी प्रदेश में एक तरफ़ अपार सम्भावनाएँ हैं और दूसरी तरफ़ उसकी कई सारी चुनौतियाँ भी हैं और इसमें सबसे बड़ी चुनौती जो मुझे लगती है, वह है उसका आत्मकेन्द्रित होना और देश के बाक़ी प्रान्तों के प्रति और भाषाओं के प्रति कोई ख़ास रुचि न होना, उत्सुकता नहीं होना।

वास्तव में हिन्दी को लेकर देश के बाक़ी हिस्सों में उत्सुकता है और दूसरी भाषाओं को लेकर भी है। ख़ासतौर से, हिन्दी में मुझे लगता है कि एक प्रकार की आत्ममुग्धता है जो शायद बहुत नुकसानदायक है। और इस समस्या को बहुत कम लोगों ने पहचाना है और इनमें से एक जिनका मैं बहुत आदर करता हूँ, वह हैं डॉ. राममनोहर लोहिया। मेरे ख़याल से भाषा के सवाल पर उन्होंने जिस तरीक़े का काम किया है, जिस तरह की अन्तर्दृष्टि उनमें है, वह मुझे दूसरे किसी नेता में नहीं दिखी। ख़ास करके उस दौर में उनके जैसे लोग मिल जाते थे। इक्का-दुक्का लोग आजकल भी कहीं मिल जाते हैं। वे उत्तर भारतीय जिनको दक्षिण भारतीय भाषा आती है, वे प्राय: लोहियावादी ही होते हैं। लोहियावाद का कर्नाटक में ख़ासकर दक्षिण कर्नाटक में काफ़ी प्रभाव रहा है।

तो काफ़ी सारे लोहियावादियों ने अपना समय दक्षिण कर्नाटक में बिताया है। ख़ैर, मैं कहना यह चाहता था कि दूसरे प्रान्तों से वाक़िफ़ होने के कारण मुझे आत्ममुग्धता का एहसास हुआ। जब आप आत्ममुग्धता के भीतर ही रहते हैं तो आपको उसमें कुछ नज़र ही नहीं आता। आप हिन्दी की संस्कृति में पूरे तरीक़े से जमे हुए हैं, तो आप तो उसके अनुकूल हो जाएँगे तो, आपकी दृष्टि, आपके क्षितिज से नीचे चली जाती है इसलिए आपकी आत्ममुग्धता नज़र नहीं आएगी। तो किसी प्रकार का बाहरी होना या किसी दूसरी जगह से या दूसरे बिन्दु से इस संस्कृति को देख पाना बहुत बड़ी उपलब्धि है। और इसने अपने आप को वंचित रखा है। हिन्दी प्रदेश में इसीलिए इसकी जो अपार सम्भावना है, उसका कुछ हो नहीं पाया है क्योंकि इसको ऐतिहासिक रूप में या समाजशास्त्र की नज़र में आप देखें तो एक बड़े प्रदेश का आत्मकेन्द्रित होना एक तरह से स्वाभाविक है और यह इतिहास की आकस्मिकता पर निर्भर करता है। इतिहास में ऐसे कई जागरूक चिन्तक हुए और इसके ख़िलाफ़ उन्होंने आवाज़ उठाई या लोगों को जगाया। इसके बारे में ऐसा कभी-कभी हुआ है लेकिन इसने जड़ नहीं पकड़ी। इस बात का हमें एहसास करना है और इसके साथ आपने जो सवाल पूछा कला के सन्दर्भ में, साहित्य के सन्दर्भ में, हमारे पास अपना बहुत कुछ है। हर भाषा में समृद्ध साहित्य है। यह हर प्रमुख भाषा में हमारे यहाँ है।

हमने विज्ञान के क्षेत्र में, विशेषकर देशज विज्ञान के लिए कोई ख़ास काम नहीं किया है। विज्ञान के लिए कोई दुविधा ही नहीं रही हमारे समाज में। इसकी पढ़ाई भी जब होती है तो इसमें कोई ख़ास दिक़्क़त नहीं आती है क्योंकि ज़्यादातर जो तकनीकी शब्द हैं, उसको अंग्रेज़ी भाषा में ही रखा जाता है, लेकिन पढ़ाया उसे हिन्दी में जाता है और जहाँ तक कला, साहित्य आदि विषयों, मानविकी का सवाल है, इस क्षेत्र में हमारी अपनी परम्परा है। हमारे अपने प्रत्यय हैं, हमारी अपनी विचारधाराएँ हैं जो अभी भी सक्रिय हैं और समय के साथ हर चीज़ को बदलना चाहिए और जहाँ मामला समाजविज्ञान का आता है, वहाँ हम दौलतमन्द होने की जगह बहुत ज़्यादा ग़रीब हैं क्योंकि हमारे यहाँ समाजवैज्ञानिक सोच इस तरह से विकसित हुई है जो मुख्यधारा में नहीं है। समाज के बारे में सोचने के लिए बाक़ी सारी चीज़ों में हमारे यहाँ बहुत गहरा चिन्तन नहीं हुआ है। जो समाजवैज्ञानिक चिन्तन हुआ है, वह ज़्यादातर सत्तापरक रहा है। यानी जिस तरह सत्ता-व्यवस्था है, उसके ही अनुकूल समाजविज्ञान है। एक तरीक़े से यह 'स्टेट कंट्रोल्ड सोशल साइंस' है जिसका उदाहरण है कौटिल्य का अर्थशास्त्र और इसलिए यहाँ जो समाजविज्ञान है, उसे एक ख़ास दृष्टिकोण से लिखा गया है। जिस तरह की प्रवृत्तियों ने पश्चिम के समाजविज्ञान को सींचा है, उसे सहारा दिया है, उस तरह की प्रवृत्तियाँ हमारे यहाँ समाजविज्ञान का रूप नहीं ले पाईं। वह लोकभाषा में रह गई। साहित्य के मामले में, दर्शन के मामले में और कला के मामले में हमारी जो परम्पराएँ थीं, उनका सैद्धान्तिक पक्ष भी बहुत प्रखर रहा। लेकिन यह सैद्धान्तिक पक्ष जैसे अधूरा रह गया।

ऐसा नहीं है कि भारत में सामाजिक उथल-पुथल नहीं हुई या सामाजिक विरोध हमारे लिए नया है, ऐसा नहीं है लेकिन सामाजिक विरोध के कारण कोई एक नया अनुशासन नहीं बना है या नए प्रत्यय गढ़े गए हों, ऐसा नहीं हुआ। तो इसलिए समाजविज्ञान के लिए हमें भक्ति साहित्य या भक्ति काव्य टटोलना पड़ता है, वही हमें मिलता है। और दूसरी बात यह है कि हमारे यहाँ धर्म का भी एक तरह से वर्चस्व रहा है तो समाजविज्ञान का जो चित्र उभरता है, उसका कुछ अंश धर्म ने घेर लिया है। इसकी वजह से भी समाजविज्ञान

के अध्ययन को क्षति पहुँची। समाजविज्ञान हमारे यहाँ समाज को लेकर बहुत कम है आज तक। दूसरी बात यह है कि मुझे कभी-कभी लगता है समाजविज्ञान पर जितना स्पष्ट चिन्तन होना चाहिए, उतना स्पष्ट चिन्तन नहीं हो पाया और इसीलिए यह राजनीतिक या भावुक मसला बन जाता है या राजनीतिक राष्ट्रवादी क़िस्म का एक मार्ग आ जाता है इसलिए जो वैचारिक बारीकी होनी चाहिए, इसमें नहीं आ पाती है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र या राज्य के सम्बन्ध में स्वराज्य या स्वदेशी की जो धारणा है, उसे हमें बढ़ाना चाहिए।

वैचारिक जगत में तो यह उस तरह कामयाब नहीं हो पाएगा तो जैसे आप देखिए कि स्वदेशी का जो आन्दोलन था 1905 या 1942 के आसपास में, तो यह क्या कह रहा था? यह कह रहा था कि हमारे देश के उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए। अर्थव्यवस्था में जब हम स्वराज की बात करते हैं या स्वदेश की बात करते हैं तो हम यह कह रहे होते हैं कि हम अपने देश में बना सामान इस्तेमाल करेंगे। चाहे वह निम्न दर्जे का ही हो, हमारे यहाँ का कपड़ा मोटा हो, उतना मुलायम न हो जितना विदेशी कपड़ा है, कमतर होने के बावजूद भी हम उसका इस्तेमाल करेंगे। उससे काम चला सकते हैं और इससे हमारे देश को फ़ायदा होगा। क्या हम वही चीज़ विचारों के बारे में कह सकते हैं कि यह हमारे यहाँ का विचार है, लेकिन अगर वह दोयम दर्जे के हैं और विदेशी विचार इससे महँगे हैं, इससे बढ़िया हैं, इससे बेहतर हैं लेकिन हम उनसे काम नहीं लेंगे? वैचारिक जगत में आप ऐसा करेंगे तो यह एक तरह से वैचारिक आत्महत्या होगी। दूसरी बात यह है कि उत्पादों के मामले में कौन-सी चीज़ कहाँ की है, इसका सीधा-सीधा उत्तर मिल जाता है लेकिन विचारों की दुनिया में कौन-सी चीज़ कहाँ बनी है, क्या वह विशुद्ध हिन्दुस्तानी है या उसमें थोड़ा-बहुत विदेशी प्रभाव पड़ा, चीन से कोई विचार आया कि अरब जगत से विचार आया या पश्चिम से ही कुछ आया, यह जानना मुश्किल काम है।

विचारों का आदान-प्रदान, लेन-देन यह एक बहुत प्राचीन-सी चीज़ है और यह कह पाना कि कोई विचार या कोई प्रत्यय या कोई धारणा पूरे तरीक़े से या शत-प्रतिशत एक ही प्रदेश की है, यह कहना लगभग नामुमकिन है। तो मेरे ख़याल से विचारों का पासपोर्ट माँगना कोई मामूली चीज़ नहीं है। वह कहते हैं न कि जात न पूछो साधु की, उसी तरह विचारों से यह मत पूछिए कि वह कहाँ से आए। आप सबसे पहले पूछिए कि यह विचार करते क्या हैं? इनका काम क्या है और इनका आप अपने परिवेश में, अपने हिसाब से किस तरह का उपयोग कर सकते हैं, यह पूछना ज़रूरी है।

यह बात सही है कि कई बार यह उत्पादों जैसी चीज़ नहीं है जैसे कि मैं कई बार उदाहरण दिया करता था कि कुछ वर्ष पहले, शायद अब दस वर्ष हो गए हैं। कुछ अख़बारों में छपा था कि हरियाणा में कहीं दही को मथने के लिए और लस्सी बनाने के लिए वाशिंग मशीन का प्रयोग किया जा सकता है कि उसमें पहले दही भर दी जाती है और फिर वाशिंग मशीन को चलाकर उसमें जल्दी-जल्दी लस्सी या मक्खन बना लिया जाता है तो इसका मैं उदाहरण दिया करता था कि इससे ज़्यादा भारतीय क्या हो सकता है?

हमने तो वाशिंग मशीन का आविष्कार नहीं किया, लेकिन क्या उस मशीन बनाने वाले ने कभी सोचा था कि इससे मक्खन बनेगा और क्या यह हमारे काम आ रही है और जिस काम के लिए हम इसका इस्तेमाल कर रहे हैं, इसका उपयोग कर रहे हैं, उसका पहले से किसी को अन्दाज़ा था?

तो मेरे ख़याल से यह एक तरीक़े का मौलिक प्रयोग है। मौलिकता इसे कहते हैं। कुछ दिन बाद मुझे भी एहसास हुआ और लोगों ने भी मुझसे बहस की कि विचार और उत्पाद, मशीन अलग चीज़ है, जैसे कि मोबाइल फ़ोन। अब मोबाइल फ़ोन से ज़्यादा भारतीय उत्पाद तो कोई नहीं मिलेगा। हर किसी का क़रीब से क़रीबी रिश्ता अपने मोबाइल से है जैसे कि आपके जितने भी परिजन हैं उनसे कहीं ज़्यादा आपको अपना मोबाइल फ़ोन सुहाता है तो यह तो विदेशी चीज़ है। कुल मिलाकर आज तो इसको विदेशी चीज़ ही माना जाता है पर कोई इसे विदेशी कहकर देखे। यह एक तर्क हुआ।

विचार और विचार के प्रयोग में हम उस तरह से फ़र्क़ नहीं कर सकते हैं जैसे हम वाशिंग मशीन और लस्सी में कर सकते हैं। यह सही है कि विचार अपनी बनावट के कारण ही, उससे क्या किया जा सकता है और क्या नहीं किया जा सकता है, इस बात को प्रभावित करता है लेकिन इसके बावजूद मुझे लगता है कि जो मौलिकता के पीछे हम भाग रहे हैं, वह एक तरह की मृगतृष्णा है क्योंकि मौलिकता वास्तव में एक उप-उत्पाद है। आप मौलिक बनने निकलेंगे तो मौलिक कभी नहीं बन पाएँगे। आप किसी समस्या का हल निकालने की कोशिश करें, अपने पास जो भी संसाधन हैं, उनका अच्छी तरह से उपयोग कीजिए और इसके दौरान कुछ न कुछ निकल आ सकता है जो बाद में जाकर मौलिक कहला सकता है। तो फिर यह वही बात हुई कि जिस तरीक़े की मौलिकता आपके हाथ आएगी, उसे तो आप पहले से नहीं जान सकते हैं। मौलिक लेखन या मौलिक चिन्तन, इसकी तलाश करने से बेहतर है कि हम स्वस्थ विचार के आदान-प्रदान की बहस, चर्चा, विवाद की परम्परा बनाएँ और इस पर अमल करें और देखने का प्रयास करें कि हमारा आचरण कैसा है। आचरण की जब परम्परा बनेगी तब जाकर मौलिकता आएगी।

इसीलिए मुझे यह कई बार लगता है कि देश का जो स्वदेशी विचार होता है, वह बहुत सक्रिय और सतत प्रक्रिया है। अब दूसरा सवाल आप उठाएँगे कि आपके साथ अत्याचार अंग्रेज़ी के कारण हो रहा है और कई छात्रों के साथ ऐसा होता भी है क्योंकि वह हिन्दी में लिखते हैं या हिन्दी में पढ़ते हैं, इसके कारण उनके साथ भेदभाव किया जाता है। यह सही भी है, कुछ हद तक यह सही भी है लेकिन मैं उन्हें हमेशा यह कहता हूँ कि बकवास तो हर भाषा में की जा सकती है क्योंकि आप हिन्दी में लिख रहे हैं, इसलिए आप यह मत समझिए कि आप जो लिख रहे हैं, वह श्रेष्ठ ही होगा है।

आप उसका आकलन कीजिए जिस तरीक़े से आप अंग्रेज़ी का आकलन करते हैं या दूसरी भाषाओं का करते हैं तो कौन-सा श्रेष्ठ और कौन-सा उतना श्रेष्ठ नहीं है, इसे परखना-जानना चाहिए। और भाषायी भेदभाव करना ये सारी चीज़ें होती हैं हमारे यहाँ लेकिन इसका थोड़ा ध्यान रखना है कि किसी चीज़ को आप हिन्दी में लिखिए। इसका मतलब यह नहीं कि उसको सर्टिफिकेट मिल जाए कि यह तो मौलिक ही है।

रमाशंकर : यूरोपीय समुदाय जब भारत में आए तो उन्होंने जिस पहली चीज़ पर ध्यान केन्द्रित किया, वह था जातियों में बँटा हुआ समाज। इसमें एक छोटे हिस्से के पास बहुत ज़्यादा ताक़त थी और वह शेष अन्य लोगों से, कामगारों और दलितों से, अस्पृश्यता का व्यवहार करता था। फिर इधर 2000 के बाद जब से निकोलस डर्क्स का काम आया तो यह कहा जाने लगा कि आज भारत में जो जाति-व्यवस्था है, उसे उपनिवेशवाद ने इन्वेंट किया और इसके अन्दर वह नई-नई श्रेणियाँ ले आया। इस पृष्ठभूमि में मैं जानना चाह रहा था कि

जिस तरीक़े से भारतीय समाज में अस्पृश्यता मौजूद थी और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में जाति का जो उच्चता क्रम था, उसे संविधान ने बदलने की कोशिश की। इसके बाद से लेकर 1990 के दौरान उसमें आप क्या परिवर्तन देखते हैं?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : जाति के सवाल पर आपने कहा कि जो विदेशी थे, उनकी आँखों में यह खटका और इसीलिए उन्होंने इस विषय पर बहुत ध्यान दिया और इस पर शुरू से ही बहुत काम हुआ है। विदेशी और देशी, दोनों विद्वानों द्वारा ही। लेकिन जो आप कह रहे थे निकोलस डर्क्स के अनुसार उपनिवेशवाद ने जाति का लगभग आविष्कार किया, इससे मेरा मतभेद इस प्रकार है कि हो सकता है कि इसका आविष्कार किया गया हो लेकिन आप इसकी समय सीमा को देखें तो हमारे यहाँ औपनिवेशिक काल दो सौ वर्ष पुराना है तो मान लीजिए कि आविष्कार किया गया है तो क्या 200 वर्षों को हम मिटा देंगे? क्या यह दो सौ वर्ष घटित ही नहीं हुए? इसीलिए किसी भी सामाजिक परिघटना और वर्तमान का जब हम आकलन करते हैं तो यह कहाँ से आई और किसने इसका आविष्कार किया, यह सवाल महत्त्वपूर्ण होता है, लेकिन इसे हर जगह महत्त्व देना ठीक नहीं। हमें देखना है कि इस परिघटना के कारण क्या घटित हो रहा है और यह ख़ुद भी नहीं कहते कि यह आविष्कार उन्होंने किया है। और निकोलस डर्क्स पूरी तरह से यह नहीं कहते हैं कि ब्रिटिश के आने से पहले यहाँ जाति नहीं थी, यह कहना तो बिलकुल असम्भव है। जाति तो बाक़ायदा थी। उसके स्वरूप को एक ख़ास मौलिकता दी गई। उसको एक दूसरे साँचे में ढाला गया। यह सही है लेकिन जो भी किया गया उस पर उपनिवेश के असर को ही हम इतिहास कहते हैं। जाति प्रथा बाहर से लाई गई चीज़ है या यह औपनिवेशिक चीज़ है—यह कहकर हम अपना पल्ला नहीं झाड़ सकते हैं। यह सारी समस्या बनी रहती है जो 1990 के दशक में उजागर हुई। विद्वानों की दुनिया में जाति का जो स्वरूप है या जाति का जो बिम्ब है या तस्वीर सामने आती है और जाति का समाज में जो यथार्थ है, इन दोनों में बहुत बड़ा फ़ासला है। यह 1990 के दशक में साफ़-साफ़ दिखने लगा। 1990 का दशक एक बहुत निर्णायक दशक था हमारे देश के इतिहास में। इस पर बहुत लोगों ने लिखा भी है। नव उदारवादी बाज़ारोन्मुख सरकारी नीतियाँ, कथित मँझली जातियों का उभार और हिन्दुत्व का एक नए तरीक़े से पुनरुत्थान व राजनीतिक जगत में दोबारा उनका शक्तिशाली होना, ये तीनों बहुत बड़ी घटनाएँ एक साथ घटित हुईं।

जातियों के इतिहास की दृष्टि से यह बहुत ही निर्णायक है क्योंकि कथित रूप से जो पिछड़ी जातियों के उभरने के सवाल को, जाति के सम्पूर्ण सवाल को नई रोशनी दी, तब तक जो नेहरूवादी सोच थी और प्रगतिशील भारतीयों की जो मुख्यधारा की सोच थी, वह यह थी कि स्वाधीनता के बाद संविधान के आ जाने के बाद जाति एक अपवाद है। जाति का प्रासंगिक होना यह केवल एक अपवाद के रूप में ही दिखता है कि जाति को हमने अप्रासंगिक बना दिया है, अपने मन से हटा दिया और इसलिए नेहरू युग का यह विश्वास था कि जाति के बारे में जितना कम बोलें, उतना ही अच्छा है। क्योंकि हमने जाति को पीछे छोड़ दिया है और अब जाति का कोई न्यायिक या क़ानूनी दर्जा नहीं है लेकिन यह केवल एक अपवाद के रूप में है क्योंकि हमारे समाज में जिस तरह के अत्याचार और जिस तरह की संस्थागत विषमता है, जाति के द्वारा क़ायम की गई सदियों से, उसका मुआवज़ा तो देना ही था।

और उसके रूप में जो रिज़र्वेशन या आरक्षण मिला था उसे ऐसा माना जाता था और जो विद्वान थे, वह भी लगभग ऐसा मानते थे कि उसे मुख्यधारा में शामिल किया जा सकता है। इसके तहत जाति पर काम करना किसी अनुशासन के लिए एक संकोच का मामला है और यह समस्त समाजशास्त्र के लिए भी संकोच का मामला था तो इसलिए इसको गाँव के साथ जोड़ दिया गया। क्योंकि सभी विद्वान जाहिरा तौर पर कथित ऊँची जातियों के थे या ज़्यादातर मध्यवर्ग, सम्पन्न वर्ग के, या तो जाति को लेकर जो इनके मन में आत्मग्लानि थी उसके कारण जाति का एक तरह से वैचारिक बहिष्कार हुआ और वैचारिक जगत में इसको लेकर के जितनी धारणाएँ बनीं, वे ऐसी बनीं कि जाति कहीं और थी। विद्वान, विचारक या जो लिख रहा है, उसके क़रीब जाति नहीं थी। जाति को या तो हमारे अतीत में धकेल दिया जाता है या तो उसे गाँव में धकेल दिया जाता है। 'जाति का अन्यत्रीकरण' कर दिया जाता है यानी हम जहाँ हैं, वहाँ जाति नहीं है इसकी वजह से जाति को ग्रामीण समाज से जोड़ दिया गया। और इसका अध्ययन ग्रामीण विकास अध्ययन की आड़ में किया जाने लगा। तो 90 के दशक ने यह बता दिया कि जाति केवल ग्रामीण शब्द नहीं है। दूसरी चीज़ यह भी हुई कि नेहरू युग में जाति को एक प्रान्तीय चीज़ बना दिया गया और जिसे हम भारत कहते हैं या राष्ट्रीय परिदृश्य पर यह कहीं नहीं थी। जाति को हमने खदेड़ दिया है। ऐसी मान्यता 90 के दशक में थी और लोग इसे विशेषकर 90 के दशक ने यह साबित कर दिया कि जाति अपवाद नहीं नियम है। कुछ की जाति ऊँचे स्वर में बोलती है, कुछ की धीमे स्वर में बोलती है और कुछ की जाति ऐसी है जिसे बोला ही नहीं जा सकता। तो यह 1990 के दशक में नज़र आने लगा कि जाति के बारे में मौन धारण करना ही जाति का सर्वनाश करना है।

जिस चीज़ की आप चर्चा तक नहीं करना चाहते, उसे हमेशा आपको जाँचना या टटोलना पड़े तो उसके बारे में आप शान्त हो जाते हैं। अगर हम उसके बारे में बोलें ही नहीं तो आपको पता ही नहीं चलेगा कि वह है भी या नहीं। तो मोटी बात यही है कि उसके बाद से बहुत सारे नए या मौलिक काम 1990 के दशक में हुए। इसीलिए यह एक तरीक़े का अजूबा है कि राजनीतिक तौर पर जो एक सवाल उठा हुआ वह किसी जाति समूह से जुड़ा था, लेकिन इसका वैचारिक जगत में जो असर हुआ, यह जाति का एक प्रत्यय बन गया।

जाति को लेकर अलग-अलग काम हुए जैसे दलितों पर, जनजातियों पर नया काम हुआ और कथित ऊँची जातियों पर भी नया काम हुआ। तो इसीलिए 1990 का दशक बहुत ही निर्णायक दशक था जाति के अध्ययन के लिए। उसके बाद जो आया है तो उसमें पहले जो खाई थी या जाति की जो वास्तविकता हमारे समाज में राजनीतिक स्तर पर या सामाजिक रिश्तों के स्तर पर थी, उसकी हक़ीक़त को समझने में हम थोड़ा ज़्यादा सफल रहे और यह प्रयास अभी भी चल रहा है।

रमाशंकर : मैं यह पूछना चाह रहा था कि जाति-व्यवस्था में जो उत्पीड़क है, जो अत्याचार ढाता है, और जिसके ऊपर जाति-व्यवस्था का अत्याचार होता है, थोड़ा खुले शब्दों में कहें तो दलित, आदिवासी, घुमन्तू समूह और उच्च जातियाँ अलग-अलग लोकेशन पर हैं। इस व्यवस्था में दलित जाति और एक ऊँची जाति वाला व्यक्ति जाति-व्यवस्था को लेकर कैसे सोचता है और इसको एक समाजशास्त्री के रूप में आप कैसे व्याख्यायित करते हैं?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : आपने बहुत अच्छा सवाल पूछा है। जाति के सवाल का मर्म एक तरह से यही है कि यह अपने आप में अप्रतिसम (एसीमेट्रिकल) है। जैसे कि आप कह

रहे थे कि जाति नाम की चीज़ को आप किसी दलित के दृष्टिकोण से देखें या ऊँची जाति के दृष्टिकोण से देखें तो आपको जो नज़र आएगा, वह अलग-अलग है। जिस तरह से आपको जो आईने में नज़र आता है, बिम्ब उलट जाता है। जो वास्तव में दाहिनी तरफ़ है वह बाईं तरफ़ नज़र आता है और जो बाईं तरफ़ है, वह दाहिनी तरफ़ नज़र आता है। आईने का बिम्ब प्रतिसम (सीमेट्रिकल) है और उधर जाति ऐसी चीज़ है जो अप्रतिसम (एसीमेट्रिकल) है तो आप जाति को दूसरे दृष्टिकोण से देखेंगे तो बहुत ज़्यादा अलग नज़र आएगा और सबसे बड़ी समस्या है कि इन दोनों दृष्टिकोणों में आपस में संवाद हो पाना बहुत मुश्किल है। और इसी का ख़मियाजा हम भुगत रहे हैं और इसी कठिनाई का सामना हम आज भी कर रहे हैं। एक तरफ़ वे हैं जो कहते हैं कि जाति तो अब समाप्त हो चुकी है और अब ऐसा कोई जातिभेद रहा नहीं और कुछ लोग इसे ज़बरदस्ती ज़िन्दा रखते हैं। और कुछ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें लगता है कि जाति तो उनके जीवन का अभिन्न भाग है। उनकी जो अवस्था है उसे अगर कोई चीज़ निर्धारित करती है तो वह जाति-व्यवस्था ही है। तो इन दोनों दृष्टिकोणों में संवाद बहुत मुश्किल है और इसी के कारण तमाम दिक़्क़तें आती हैं।

रमाशंकर : अख़बारों और जर्नल्स में आपके लेखन को पढ़ते हुए मेरे दिमाग़ में एक सवाल आया कि जो हाशियाई तबक़े हैं, अन्य पिछड़ा वर्ग, मुस्लिम, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के छात्र, वे अभी विश्वविद्यालयों में नव-प्रवेशी हैं। विश्वविद्यालयों ने निश्चित ही उनकी सामाजिक और राजनीतिक ज़िन्दगी बदली है और इसके साथ ही भारत का सार्वजनिक जीवन बदलना ही शुरू हुआ था। आप सेंट स्टीफ़ेंस ही देख लीजिए कि एक समय था जब सेंट स्टीफ़ेंस में पढ़ने के लिए डॉक्टर या इंजीनियर के लड़के सपना देखते थे। आज हर कोई सोचता है कि सेंट स्टीफ़ेंस नाम की एक जगह है और मुझे वहाँ पढ़ना चाहिए, लेकिन वहाँ प्रवेश मिल नहीं रहा है क्योंकि सीटों की संख्या कम है। शिक्षा पहले भी महँगी थी और अभी भी महँगी है लेकिन सार्वजनिक वित्त से पोषित शैक्षिक संस्थान हाशिये के समुदायों की पहुँच में थे। इस तरह के संस्थानों ने उनके जीवन में हस्तक्षेप करना ही शुरू किया था उसकी जगह पर 'प्राइवेट यूनिवर्सिटी सिस्टम' आ गया है और भारत का एक तबक़ा इसके समर्थन में है। इन विश्वविद्यालयों की फ़ीस लाखों में है। इन निजी विश्वविद्यालयों के अन्दर आप हाशियाई तबक़ों का शैक्षिक भविष्य कैसे देखते हैं?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : अब उच्च शिक्षा के साथ वही हो रहा है जो तीस या चालीस वर्ष पहले स्कूली शिक्षा के साथ हुआ यानी कि मेरी पीढ़ी वह पहली पीढ़ी थी जिसके अभिभावकों ने सरकारी स्कूल में जो पहले आस्था थी उस आस्था को एक तरफ़ करते हुए निजी स्कूलों में नई आस्था स्थापित की और उनमें उन्होंने विश्वास किया कि बच्चों को प्राइवेट स्कूल में ही भेजना बेहतर है। यह एक तरह से बहुत बड़ा सामाजिक बदलाव था जो चुपके-चुपके हो गया क्योंकि स्कूली शिक्षा में बराबरी लगभग हर व्यक्ति, विकसित देशों का एक उसूल रहा है, चाहे वह पूँजीवादी देश ही क्यों न हो जो हर दूसरे मामले में ग़ैर बराबरी में विश्वास रखता है लेकिन स्कूल के मामले में बराबरी पर विश्वास रखता है जैसे कि अमेरिका।

अमेरिका में स्थानीय स्कूल होते हैं। आप जिस इलाक़े में रहते हैं हर इलाक़े के लिए उसका एक नामजद स्कूल होता है। आप अमीर हों या ग़रीब हों, आप उस इलाक़े में रहते हैं तो आपके बच्चे उसी स्कूल में जाएँगे क्योंकि वह स्कूल उस इलाक़े के लिए बना है। ऐसा कम से कम पहले तो था आजकल बहुत बदल गया है लेकिन हर विकसित समाज में जो भी

बदलाव आए 1950 के दशक के बाद, वह सार्वजनिक स्कूलों के कारण सम्भव हो सका, उसकी बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी स्कूल में बराबरी लाकर निभाई गई। तो भारत में क्या हुआ कि शुरू में तो ऐसा था सब सार्वजनिक स्कूल में जाएँगे लेकिन बहुत जल्दी ही स्वतंत्रता के बाद साठ के दशक में यह शुरू हुआ कि अभिभावक अपने बच्चों को ख़ास करके मध्यवर्गीय या ज़्यादातर उच्च जाति के लोगों ने सरकारी स्कूलों से परहेज करना शुरू कर दिया। यही बात उच्च शिक्षा में भी धीरे-धीरे क़ायम हो रही है क्योंकि आज तक हमारे यहाँ उच्च शिक्षा के मामले में, जैसे मैंने कहा कि तीन दशक से है, जो सबसे असहाय है और उसके पास और कोई विकल्प नहीं है, केवल ऐसे ही अभिभावक अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजते हैं। लेकिन अभी चार वर्ष पहले भी अभिजात वर्ग के बच्चे भी सरकारी उच्च शिक्षा पाना चाहते थे। चार-पाँच वर्ष पहले तक तो था कि आप इंजीनियरिंग पढ़ना चाहते हैं, डॉक्टरी पढ़ना चाहते हैं या चाहे कुछ भी पढ़ना चाहते हैं तो सबसे अच्छे संस्थान सरकारी संस्थान हैं। आज यह धीरे-धीरे बदल रहा है। इसका एक कारण यह है कि अभिजात वर्ग को यह लग रहा है कि उनका आभिजात्य अब ख़तरे में है। तो अब यह सब जो हो रहा है, उच्च शिक्षा में आभिजात्य को कैसे क़ायम किया जा सके? फ्रांस के समाजशास्त्री थे पियरे बोरड्यू। उनका एक प्रत्यय है डिस्टिंक्शन या विशिष्टताबोध। अभी जातीय श्रेष्ठता, सामाजिक श्रेष्ठता के जो कारक होते हैं जिनके आधार पर यह श्रेष्ठता क़ायम की जाती है, यह कारक वैसे होने चाहिए जो सबको उपलब्ध न हों, जैसे अंग्रेज़ी को ही देखिए, जैसे अंग्रेज़ी श्रेष्ठता का आधार बनती है तो बाज़ार आगे आता है। अलग-अलग तरह के कोचिंग क्लास शुरू करने के लिए, अंग्रेज़ी को सर्वसुलभ बनाने के लिए, उसकी वह कोशिश करता है। यह एक बिकाऊ चीज़ है और इससे पैसा कमाया जा सकता है। पर जैसे अब अंग्रेज़ी जानना भर ही काफ़ी नहीं रहता, श्रेष्ठता का दावा करने के लिए, आभिजात्य का दावा करने के लिए ऐसे मामले भाषा के नहीं रह जाते, मामला यह होता है कि आपका 'एक्सेंट' क्या है, आप कैसे बोलते हैं? तो उसके लिए अलग बाज़ार तैयार होता है, उसकी कोचिंग क्लास शुरू होती है कि आपको अंग्रेज़ी का उच्चारण सही-सही कैसे करना है। ऐसे बदलते-बदलते ही कोई चीज़ जनसुलभ हो जाती है या बाज़ार में मिलने लगती है। आसानी से। तो फिर अभिजात कोशिश करते हैं कि हम इस पैमाने को बदलेंगे। जो वर्तमान है, हम उसको बदलेंगे। यही हो रहा है कि सरकारी संस्थानों में अलग-अलग तबक़ों से लोग आने लगे हैं, उनको दाख़िला मिलने लगा है तो आभिजात्यता अब ख़तरे में है। इसीलिए विकल्प ढूँढ़ा जा रहा है और निजीकरण उसका एक विकल्प है। लेकिन यह हमारे समाज में कहाँ तक सफल हो पाएगा, यह देखना पड़ेगा क्योंकि अगर इसे बहुत महँगा बना दिया जाता है तो सीधे-सीधे विदेश जाना बेहतर होगा तो जो अमीर वर्ग है, वह चाहेगा कि अपने बच्चों को असली विदेशी शिक्षा मिले न कि दोयम दर्जे की भारत में निर्मित विदेशी शिक्षा, तो फिर वह विदेश ही चला जाएगा। और अगर इसको बहुत सस्ता बना दिया जाए तो फिर यहाँ वही समस्या होगी, तब आभिजात्य को यह चिन्ता सताएगी कि इसमें तरह-तरह के लोग आ जाएँगे। शिक्षा प्राप्त करने पर यह देखना पड़ेगा कि यह कहाँ तक सफल है और यह भी कि अच्छा विश्वविद्यालय बनाना लिबरल आर्ट्स के लिए जिसके लिए बहुत सारे संसाधन का होना ज़रूरी है और जिसकी लागत बहुत ज़्यादा है, इतनी लागत कौन दे पाएगा और इससे जो मुनाफ़ा आएगा, वह जल्दी नहीं मिलता और वह बहुत देर से मिलता है। महँगी फ़ीस के बावजूद उसकी लागत और कमाई का जो अनुपात शुरू के एक-दो दशक में होता है उसे झेलना बहुत मुश्किल हो जाता है।

इसलिए ज़्यादातर सरकारी विश्वविद्यालय में भविष्य बहुत साफ़ है या इससे आगे क्या होगा यह अभी हमें पता नहीं लगता। लेकिन यह हो ज़रूर रहा है और हमारे सरकारी उच्च शिक्षा के संस्थानों में अब एक प्रकार की त्रासदी है, संकट है और इसका सामना वह कैसे करता है, इस पर भी काफ़ी कुछ निर्भर करेगा।

रमाशंकर : मेरी एक जिज्ञासा है कि पिछले पाँच-छह वर्षों में आपने जो नई चीज़ें पढ़ी हैं या किसी समस्या को आप किसी ख़ास नज़रिये से देख रहे हैं, तो क्या वह आप हमसे साझा करना चाहेंगे?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : इधर हाल के वर्षों में मैंने भाषा और समाजविज्ञान के सवाल पर, भाषा और समाजविज्ञान के रिश्ते पर सोचा-समझा है। यहाँ मेरा मानना है कि अनुवाद सबसे बड़ी समस्या नहीं है। जब भी यह सवाल होता है ख़ासकर सरकारी खेमों में माना जाता है कि अनूदित पाठ या अनूदित किताबों की कमी ही सबसे बड़ी दिक़्क़त है कि यदि अंग्रेज़ी में उपलब्ध सारे टेक्स्ट या किताबें भारतीय भाषा में उपलब्ध हों तो मामला सुलझ जाता। मेरे ख़याल से सबसे बड़ी समस्या अनूदित पाठ के अभाव की नहीं, सबसे बड़ी समस्या हमारे समाजविज्ञान की शिक्षा-पद्धति में है। हमारी शैक्षणिक पद्धति बहुत ज़्यादा परीक्षाकेन्द्रित है। भारतीय उच्च शिक्षा की जो व्यवस्था है, वह स्कूली शिक्षा से ही शुरू हो जाती है और उच्च शिक्षा में आकर भी यह बदलती नहीं है। यहाँ शिक्षा का मतलब किसी परीक्षा में अच्छे नम्बर लाना, अच्छे नम्बर से भी ज़्यादा अच्छा रैंक लाना या अच्छा क्रमांक चाहिए होता है। और यहाँ पढ़ाने का तरीक़ा भी यही होता है कि परीक्षा के सवालों में कि सबसे अच्छा यानी सबसे ज़्यादा नम्बर लाने वाला जवाब क्या है? फिर इसमें यह सारी चीज़ें आती हैं कि आपने छात्र को जो भी पढ़ाया है, उसने कोई अंश परीक्षा में उद्धृत कर दिया जहाँ तक हो पाया। छात्र उसको हूबहू उतारने की कोशिश करते हैं। इससे जो सोचने की क्रिया है, इसको कोई बढ़ावा नहीं मिलता। इस तरह से सोचने की क्षमता कुंठित हो जाती है तो अगर आप ज़्यादा सोचने की कोशिश करेंगे तो सजग में आपके कम नम्बर आ सकते हैं, ऐसा भी होता है और इसके प्रति छात्रों को उजागर भी किया जाता है कि ज़्यादा सोचो मत, जो लिखा है, उसी को बस लिखो और उच्च शिक्षा में भी लगभग यही होता है। उत्तर आपको लिख दिया गया है और उसके लिखे को आप परीक्षा में जो आप उत्तर-पत्र लिख रहे हैं, उसमें किस अंश तक उतार सकते हैं, यही होता है। हमारे यहाँ विचारों के आदान-प्रदान की जो प्रक्रिया बन गई है, उसका सामना करना, उससे रूबरू होना, उसके साथ अपने छात्रों का एक तरह से संवाद स्थापित करना जब तक हम नहीं सिखा पाते, तब तक यह समस्या बनी रहेगी। तो अंग्रेज़ी का वर्चस्व इसलिए नहीं है केवल कि उसके पास अपार भंडार है पुस्तकों का, जब तक हम सवाल पूछना क्या होता है, उसका जवाब देना क्या होता है, इसका एहसास या अनुभव नहीं ले पाएँगे, तब तक भारतीय भाषाओं की जो हीन अवस्था है, वह बनी रहेगी और आप हज़ार अनूदित पुस्तकें उपलब्ध करा दीजिए उससे कुछ बदलेगा नहीं और रही दूसरी बात कि अनुवाद भी बहुत ही यांत्रिक अनुवाद होते हैं। कई अनुवाद ऐसे होते हैं जो अपठनीय होते हैं और कई बार हमारी परीक्षाओं में भी यही होता है कि जो अनूदित सवाल होता है उसको समझने के लिए आपको पहले अंग्रेज़ी का सवाल पढ़ना पड़ता है। इसलिए अनूदित पाठ को समझने के लिए भी आपको कभी-कभी मूल अंग्रेज़ी पढ़ना पड़ता है क्योंकि गूगल ट्रांसलेटर से जो कई बार अनुवाद किए जाते हैं, वे इसी प्रकार के होते हैं मतलब अपठनीय

या अनुपयोगी। लेकिन मूल बात यह है कि उच्च शिक्षा में जिस तरीक़े की सवाल-जवाब प्रक्रिया का अभाव है और उसे भारतीय भाषाओं में कर पाना या उसका पोषण किस प्रकार भारतीय भाषाओं में हो सकेगा, यह अभी नहीं बताया जा सकता है।

रमाशंकर : पूरी दुनिया सहित भारत कोविड-19 की विपदा से बुरी तरह से प्रभावित है। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोग रोज़ कुआँ खोदो, रोज़ पानी पियो वाली हालत में हैं। हम सबने लाखों-लाख लोगों को सड़कों पर चलते हुए देखा है। उनका रोज़गार चला गया है। दूसरी तरफ़ पूरी राहत और सहायता 'स्टेट कंट्रोल' में है। इस दिक़्क़त का भारतीय समाज पर क्या असर पड़ सकता है?

प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे : समाजविज्ञान की एक दिक़्क़त यह है कि वह वर्तमान का तुरन्त विश्लेषण नहीं कर सकता। उसे थोड़ा समय लगता है। एक तरह से हम जिस चीज़ से गुज़र चुके हैं, उसी का हम विश्लेषण कर सकते हैं। विश्लेषण के लिए समय की एक निश्चित दूरी की आवश्यकता है। एक तरफ़ आप जो कह रहे हैं, वह बिलकुल पते की बात है कि जिस संकट से आज हमारा समाज गुज़र रहा है, उसके कई आयाम हैं और उसका बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है हमारे समाज पर। इसको हम आने वाले दशक में समझ पाएँगे पूरी तरह से। कुल मिलाकर कहा जाए तो इस महामारी ने यह दिखा दिया है कि आज के दौर में सामाजिक अनुबन्ध जिसे कहते हैं, अंग्रेज़ी में जिसे सोशल कॉन्ट्रैक्ट कहते हैं, यह कोई लिखित चीज़ नहीं होती है लेकिन जिस पर समाज का ढाँचा टिका हुआ होता है या हर एक तरह से यह अनुबन्धों का या सामाजिक रिश्तों का जो एक ढाँचा है, वह हिल चुका है। इस महामारी ने बता दिया कि हम एक-दूसरे के प्रति या समाज का एक तबक़ा दूसरे तबक़े के प्रति जिस प्रकार जवाबदेह होना चाहिए, वैसा नहीं है। हम भारतीय समाज का अंग हैं और हम भारतीय समाज में रहते हैं। भारतीय समाज का मतलब यह है कि अलग-अलग तबक़ों में दूरियाँ होते हुए भी एक तरह का रिश्ता है। एक प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है। लेकिन इस महामारी ने हमें दिखा दिया कि परस्पर सम्बन्ध किस हद तक लगभग टूट चुके हैं और किसी का किसी के प्रति दायित्व नहीं रहा। अब जो सम्पन्न वर्ग है, वह अपने सारे सामाजिक दायित्व से अपने आप को मुक्त कर रहा है और जो विपन्न वर्ग है, उसकी समाज से जो माँगें हैं, उसका जो एक तरह से बकाया है या समाज से वह जिस तरीक़े की अपेक्षा कर सकता है, उन अपेक्षाओं को एक तरह से ठुकरा दिया जा रहा है। एक तरह से पूरा सामाजिक ढाँचा अब नंगा हो गया है। हमारे सामने इस महामारी ने एक तरह से दिखा दिया कि लो, यही तुम्हारा समाज है। यहाँ बाज़ार के रिश्ते ऐसे हैं जिनमें कोई जवाबदेही नहीं है। मैं अगर किसी छोटी-मोटी फैक्ट्री का मालिक हूँ, जब तक मेरे यहाँ मज़दूर काम करते हैं, जब तक उसके काम से मैं कुछ कमा सकता हूँ, तब तक मुझे उनकी दरकार है। जब मुझे उनकी दरकार नहीं है, मैं उनके प्रति किसी भी प्रकार का कोई दायित्व नहीं लूँगा। कोई जवाबदेही नहीं होगी।

बाज़ार और क़ानून की जो न्यूनतम शर्तें हैं, उन न्यूनतम शर्तों का भी मैं मालिक होने के नाते कई बार उल्लंघन करता हूँ। उनको नहीं मानता हूँ। जैसे मज़दूरों की एक बड़ी संख्या है जिन्हें अपनी बकाया पगार नहीं मिली, उनको जो मिलना चाहिए था, जो काम वे कर चुके हैं, उसकी मज़दूरी भी उन्हें नहीं मिली।

बाक़ी सब तो छोड़िए। इस संकट में रहने की जगह या खाने-पीने का इंतज़ाम या कम से कम नौकरी बरक़रार रहेगी, इतना भी आश्वासन हमारा सम्पन्न वर्ग नहीं दे पाया और

तमाम तरह के रिश्ते जैसे परिवार के रिश्ते, आस-पड़ोस के रिश्ते, इन सारे रिश्तों में दरारें पड़ गई हैं। यह जो आघात पड़ा है, जो हादसा हुआ है, इससे हमारे समाज पर दूरगामी असर क्या होगा, यह आज हमें नहीं पता चलेगा। कुछ हुआ ज़रूर है और इसका पूरा विवरण हमें आगे जाकर ही पता चलेगा।

हिमालय से परिचय

अरुण कुकसाल

हिमालय बहुत नया पहाड़ होते हुए भी मनुष्यों और उनके देवताओं के मुक़ाबले बहुत बूढ़ा है। यह मनुष्यों की भूमि पहले है, देवभूमि बाद में, क्योंकि मनुष्यों ने ही अपने विश्वासों और देवी-देवताओं को यहाँ की प्रकृति में स्थापित किया। हिमालय के सम्मोहक आकर्षण के कारण अक्सर यह बात अनदेखी रहती आई है। शेखर पाठक की चिन्ता का आरम्भिक बिन्दु यही है कि हिमालय को उसके मित्रों से ज़्यादा उसके शत्रु जानने लगे हैं। हिमालय अप्रतिम ही नहीं, यहाँ के मनुष्यों के साथ तमाम जीव प्रजातियों के लिए अपरिहार्य भी है। हिमालय के अद्वितीय सौन्दर्य के साथ ही इसके स्वयं के जीवन और इस पर निर्भर जीवनों के मर्म को सबसे पहले समझा जाना चाहिए। तभी हिमालय हमारा और हम हिमालय के रह पाएँगे।

शेखर पाठक एक उम्दा इतिहासकार हैं और वे कुली बेगार प्रथा, पंडित नैनसिंह रावत के जीवन, और सबसे बढ़कर चिपको आन्दोलन पर *हरी-भरी उम्मीद : चिपको आन्दोलन और अन्य जंगलात प्रतिरोधों की परम्परा* जैसी शानदार किताबों के लेखक के तौर पर जाने जाते हैं। उनकी *दास्तान-ए-हिमालय* (दो खंडों में) उनकी इसी विद्वत्ता का विस्तार है। *दास्तान-ए-हिमालय* शेखर पाठक के हिमालय के इतिहास, प्रकृति, समाज-संस्कृति, तीर्थाटन, अन्वेषण, व्यक्तित्वों और आन्दोलनों पर व्याख्यानों और लेखों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है। वर्ष 1979 से 2016 तक के अन्तराल के इन व्याख्यानों और लेखों के केन्द्र में हिमालय है। इस नाते यह किताब मानवीय समाज के लिए हिमालय को आत्मीयता से जानने, समझने और उसके प्रति व्यवहार को सजग करने का लेखकीय आह्वान है।

किताब के आरम्भिक लेखों में हिमालय की उत्पत्ति, उसके बनने की दास्तान और उसमें विकसित समाजों की विकास-यात्रा का फैलाव है। लगभग छह करोड़ साल पहले अफ्रीका से सरककर आए भारतीय उपमहाद्वीप द्वारा एशिया भूखंड को निरन्तर धकियाए जाने के कारण टैथिस सागर की जगह पर नया भूगोल उग आया था। टैथिस सागर के भूगर्भ से निर्मित इस भूगोल को हिमालय कहा गया। हिमालय एक तरफ़ आज भी स्वयंनिर्माण की प्रक्रिया में है, तो दूसरी ओर यहाँ की वन्यता और जनजीवन का पालनहार भी है। शेखर पाठक लिखते हैं कि हिमालय का विशिष्ट संसाधन वन्यता यानी यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य

है। दरअसल, यह हिमालयी प्रकृति के विभिन्न घटकों का समुच्चय है। अनेक बार इसमें मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत भी जुड़ जाती है। यह एक पूर्ण प्राकृतिक अवदान है। आज की पूँजी, तकनीक और युद्ध से ग्रस्त दुनिया में वन्यता का असाधारण महत्त्व है और यह विभिन्न व्यवस्थाओं के दबाव के कारण लील लिये गए मानवीय तत्त्वों को पुनर्सृजित कर सकती है। (पृ. 71) हिमालय और उसके समाजों की इतिहास-गाथा बताती है कि हिमालय की वन्यता ने ही उसे देवभूमि की पहचान दी है। यह ग़ौरतलब है कि हिमालयी वन्यता की न तो पुनर्रचना हो सकती है और न ही इसकी वैकल्पिक व्यवस्था की जा सकती है। अत: यहाँ के समाजों और समुदायों को यह मज़बूती से समझना होगा कि उनके सुरक्षित और ख़ुशहाल जीवन का एकमात्र आधार हिमालय की हिफ़ाज़त और सलामती में ही है।

दास्तान-ए-हिमालय के प्रथम खंड में हिमालयी पारिस्थितिकी की उत्पत्ति और उसमें विकसित मानव समाजों एवं समुदायों की तस्वीर है। प्रथम खंड के पहले दो लम्बे आलेख हिमालय के इतिहास का एक गहन ख़ाका खींचते हैं। प्रकृति और मानव के आपसी नैसर्गिक सम्बन्धों में विकसित संस्कृति के कई रंग हैं। बतलाया गया है कि 'भूगर्भ कैसे भूगोल और भूगोल कैसे खान-पान, गान, नृत्य और पहनावे को प्रभावित करता है, यह हिमालय में सरलता से समझा जा सकता है।' (पृ. 25) यह किताब हिमालय के मानवशास्त्रीय इतिहास की विस्तृत चर्चा करती है और बताती है कि किस तरह हिमालयी समाज बन रहा है। लेखक ने राजवंशों के इतिहास को बताते हुए 'हिमालयी सामन्तवाद' जैसा एक नया पद इस्तेमाल कर उसका विश्लेषण किया है। इन अर्थों में लेखक ने हिमालयी साम्राज्यों को नए आलोक में देखा है। हिमालय में ब्रिटिश सत्ता का आगमन और उनके अन्वेषण-अभियानों से हिमालय के द्वार दुनिया के लिए खुलने का सिलसिलेवार और रोचकता से भरा विवरण इस किताब में है। इस दौर के बारे में शेखर पाठक लिखते हैं कि अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में हिमालय में नई व्यवस्था तथा विभिन्न प्रणालियों का आगमन हुआ और जिस तरह का सामाजिक-सांस्कृतिक, प्रशासनिक-राजनीतिक, आर्थिक-पारिस्थितिक आधार बना, उस पर औपनिवेशिक सत्ता बीसवीं सदी में भी चलती रही। यह ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य की पराकाष्ठा थी, जो उन्हें मुग़लों, सुल्तानों, हर्ष या अशोक के भारतीय साम्राज्य से भिन्न सिद्ध करती थी। (पृ. 138)

शेखर पाठक की यह किताब हिमालयी व्यक्तित्वों से भी परिचय कराना नहीं भूलती है। इसमें राहुल सांकृत्यायन, चन्द्रसिंह गढ़वाली और सरला बहन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर तीन अध्याय हैं। इनके माध्यम से लेखक हिमालयी अध्येताओं, सेनानियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के समग्र ज्ञान, अदम्य साहस और नि:स्वार्थ सेवा के भाव को पाठकों के मन-मस्तिष्क को सौंपते हैं। बहुआयामी और बहुस्तरीय प्रतिभा राहुल सांकृत्यायन के जीवन, लेखन और घुमक्कड़ी के अद्भुत आयाम उनके दुर्लभ चित्रों के साथ हैं। लेकिन, उनके लिए लेखक के ये प्रश्न भी हैं कि 'बाबा, कभी-कभी लगता है कि आपकी भी सीमाएँ थीं। कुछेक बार आप ज़्यादा स्पष्ट बोलने से कतरा गए या आप नहीं समझ सके कि आपको इन मामलों में ज़्यादा बोलना है, जैसे रूस के भीतरी हालात के बारे में। जिस तिब्बत की आपने चार विराट यात्राएँ कीं, उसकी स्वतंत्रता और स्वायत्तता के बाबत आपका स्टैंड ज़्यादा स्पष्ट होना चाहिए था। असली साम्यवादी कभी विस्तारवादी नहीं हो सकते।' (पृ. 150) अन्याय के विरुद्ध बुलंद आवाज़ के प्रतीक वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली और उनके साथी हिमालयी समाज और उसकी सैनिक परम्परा के अन्तर्मन के हिस्से हैं। शेखर पाठक

लिखते हैं कि 'चन्द्रसिंह गढ़वाली ब्रिटिश फ़ौज में रहकर भी संवेदनशील और फ़ौज से निकाले जाने पर भी सिपाही बना रहा, एक ऐसा सिपाही जो अपनी सरकार के अन्यायों के ख़िलाफ़ बोलता रहा। वह मानता रहा कि असली सिपाही जनता को कुचलने वाला नहीं, उसकी भाषा-भृकुटि समझने वाला होता है। यही बिन्दु चन्द्रसिंह गढ़वाली तथा उसके साथियों को समझने की कुंजी है।' (पृ. 192) लंदन में जन्मी और युवा हुई कैथरीन मेरी हाइलामन उत्तराखंड में आकर देश-दुनिया की सरला बहन बनीं। लक्ष्मी आश्रम, कौसानी में रहकर उत्तराखंडी जनजीवन में सामाजिक चेतना की वे मज़बूत संवाहक थीं। चन्द्रसिंह गढ़वाली की तरह सरला बहन आज़ादी से पहले और उसके बाद अपनी सामाजिक सक्रियता के बल पर सरकारों को आगाह करती रहीं। गांधी जी के बताए रास्ते पर आजन्म चलते हुए वह गांधीवाद को ढोंग की तरह ढोने वाले सामाजिक कार्यकर्ताओं से दूर रहीं। इसी खंड में उत्तराखंड के भाषा परिदृश्य पर एक विस्तृत और पठनीय आलेख है जिसमें मौखिक परम्परा से लिपि और लिखित में आते पहाड़ी समाज को समझने का प्रयास किया गया है।

किताब का द्वितीय भाग उत्तराखंड के इतिहास और सामाजिक आन्दोलनों पर केन्द्रित है। शेखर पाठक इनके बारे में जानकारी से ज़्यादा इनको वर्तमान एवं भविष्य के सन्दर्भों में परिभाषित और विश्लेषित करते हैं। किताब में इतिहास, रीति-रिवाज, भाषा, पशु-पक्षी, प्रतिरोध की परम्परा, नशा, खेती-किसानी और आपदा के स्वरूपों में उत्तराखंड का चेहरा झलकता है। किताब में मानवशास्त्री बेरीमन की उत्तराखंड के एक गाँव के सामाजिक अध्ययन पर लिखी गई चर्चित पुस्तक *हिन्दूज ऑफ़ द हिमालय* की गहन समीक्षा करते हुए शेखर पाठक लिखते हैं कि...'हमारी कोशिश सदा अपने सामाजिक अतीत को महान दिखाने की होती है।...दरअसल, हमारी दिलचस्पी 'हम क्या थे' से ज़्यादा 'हम क्या नहीं थे' या 'हम क्या हैं' से ज़्यादा 'हम क्या नहीं हैं' में है और यह दृष्टि कभी भी अतीत को समझने, वर्तमान को झेलने तथा भविष्य को बनाने नहीं देती है।' (पृ. 110)

यह सामान्य धारणा है कि उत्तराखंडी समाज में जातीय भेदभाव ज़्यादा प्रभावी नहीं हैं। परन्तु समय-समय पर जातीय संघर्षों ने इस धारणा को नकारा है। किताब में 9 मई, 1980 को अल्मोड़ा जनपद के कफल्टा गाँव में घटी घटना 'श्याम प्रसाद लुहार की बारात' का ज़िक्र इस ओर इशारा करती है। उत्तराखंड में उभरे सामाजिक आन्दोलनों के तीन रूप किताब में दिखाई देते हैं। पहला—सभी वर्णों और वर्गों के हितों के लिए, दूसरा—अपनी जाति और वर्ण के हितों के रक्षार्थ और तीसरा—सम्पूर्ण समाज में शिक्षा, स्वास्थ्य और कुरीतियों को समाप्त करने के निमित्त हुए आन्दोलनों की पड़ताल किताब में गहराई से है। आज के उत्तराखंड की सामाजिक नब्ज टटोलने के लिए पिछली शताब्दी में हुए इन आन्दोलनों के गर्भ और मर्म को अवश्य समझा जाना चाहिए। उत्तराखंड में सामाजिक-राजनीतिक प्रतिरोधों की प्रभावी अभिव्यक्ति 'बेगार आन्दोलन' और टिहरी रियासत के 'ढंडकों' (ढंडक का अर्थ विद्रोह से है) से की जा सकती है। ब्रिटिश कुमाऊँ और टिहरी रियासत में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दौर तक बेगार को आम जनता के नियमित और संगठित शोषण का रूप दिया गया था। इन आन्दोलनों ने बाद में, उत्तराखंड के जनमानस को देश के स्वाधीनता आन्दोलनों से जोड़ा।

उत्तराखंड में अस्सी के दशक में उत्तराखंड संघर्षवाहिनी के नेतृत्व में संचालित 'नशा नहीं रोज़गार दो' आन्दोलन की गहरी पड़ताल करते हुए शेखर पाठक ने बख़ूबी बताया है कि 'नशा एक षड्यंत्र है' (महत्त्वपूर्ण है कि उत्तराखंड में जन्मे चिपको आन्दोलन के विस्तार और

विकास से अभिप्रेरित युवाओं ने 25 मई, 1977 को गोपेश्वर में 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' का गठन किया था।) नशे के इसी षड्यंत्र की कारगुज़ारी से आज उत्तराखंड के सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्य में शराब लॉबी की पकड़ बहुत मज़बूत हो गई है। इसमें भी गम्भीर बात यह है कि यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। कहना न होगा कि 'नशा नहीं रोज़गार दो' आन्दोलन के चार दशक बाद, तब से अब तक इतना बड़ा फ़र्क़ हुआ कि तब शराब उत्तराखंड में कुछ लोगों की आय का ज़रिया थी। आज शराब उत्तराखंड सरकार की आय का मुख्य ज़रिया है। नए राज्य की यह सबसे बड़ी विडम्बना है। उत्तराखंड में चौपट होती खेती से मुँह फेरकर गाँवों से नगरों की ओर आम जन से लेकर जनप्रतिनिधि तक भागने की फ़िराक़ में हैं। ज़मीन, जंगल, जल, जानवर और जन से वीरान होते गाँव उनकी चिन्ता में ज़्यादा मायने नहीं रखते हैं। इस प्रवृत्ति पर शेखर पाठक का तंज है कि 'यह सिर्फ़ शहरीकरण भी नहीं है, यह जड़ विहीन हो जाना है।...सिर्फ़ 'नराई' (याद) से पहाड़ को याद करने वालों के लिए भी उनके गाँव का होना और गाँव में उनके लोगों का होना ज़रूरी है।' (पृ. 288) इस आलेख में संसाधनों और विशेष रूप से ज़मीन के आयामों पर गहरी नज़र डाली गई है और कहा गया है कि प्रदेश सरकार को अपनी ज़मीन के सही आँकड़े पता नहीं हैं क्योंकि पिछले 55-60 साल से ज़मीन का बन्दोबस्त नहीं हुआ है। पिछला बन्दोबस्त 1960-64 में हुआ जो 40 साल के लिए था। इस प्रकार उत्तराखंड में 2000-04 के बीच नया भूमि बन्दोबस्त होना चाहिए था, पर राजनीति इधर देखना नहीं चाहती है।

विगत दो शताब्दियों की आपदाओं की कई कथाएँ कहते हुए यह किताब अपने विराम पर पहुँचती है। हिमालय में आपदाओं की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुए उनके मूल कारणों, परिणामों और भविष्य के भय के प्रति लेखक का मानना है कि आज की सतर्कता से ही इसे कम किया जा सकता है। सन् 1803 के महा भूकम्प से 2013 की महा आपदा पर विपुल सामग्री और विश्लेषण के साथ कहा गया है कि अब हिमालय में प्राकृतिक आपदा में मनुष्य और उसको चलाने वाली व्यवस्था का योग जुड़ गया है। और अन्त में, *दास्तान-ए-हिमालय* बस इतनी सी है कि 'मनुष्य की जल्दबाज़ी से हिमालय से मिट्टी के जाने की गति बढ़ गई है।...और यह दरअसल, मिट्टी ही है जो हमें मिट्टी नहीं होने देती है। हिमालय की लड़ाइयाँ इसी मिट्टी की हिफ़ाज़त के लिए चल रही हैं।

शेखर पाठक *दास्तान-ए-हिमालय* (दो खंडों में), 2021 वाणी प्रकाशन और रज़ा फ़ाउंडेशन, नई दिल्ली, पृ. 340 तथा 363

पानी, प्रकृति और पर्यावरण का 'अनुपम' संसार

शुभनीत कौशिक

विजयदेव नारायण साही ने अपने एक लेख में लिखा है कि 'श्रेष्ठ और सार्थक चिन्तन का एक लक्षण यह होता है कि समसामयिक प्रश्नों पर उसकी चिरंतन दृष्टि रहती है और चिरंतन प्रश्नों पर समसामयिक दृष्टि।' पर्यावरणविद् अनुपम मिश्र के लेखन और सरोकारों में हमें चिरंतन और समसामयिक दृष्टि का यही अनूठा समन्वय देखने को मिलता है। पानी और पर्यावरण से जुड़ी अनुपम मिश्र की चिन्ताओं और उनके अभिनव सोच की बानगी देती है समीक्ष्य पुस्तक, जो उनके लेखों, वक्तव्यों और भाषणों का संकलन है। किताब का शीर्षक भी अनुपम जी के सरोकारों के अनुकूल ही है, *बिन पानी सब सून*। पानी न हो तो हमारी सारी समृद्धि, सारा विकास और सारी चमक-दमक धरी की धरी रह जाए, यही तो अनुपम मिश्र लगातार कहते और लिखते रहे।

पुस्तक में संकलित अनुपम मिश्र के ये लेख पिछले दो-तीन दशकों में उनकी वैचारिक यात्रा और चिन्ताओं का प्रतिफलन हैं। ये सभी लेख *धर्मयुग, शुक्रवार, नई दुनिया, प्रजानीति, संस्थाकुल, जनसत्ता, डाउन टू अर्थ, राजस्थान पत्रिका, तहलका* आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे और अब इस किताब का हिस्सा हैं। पत्रिकाओं की यह सूची भी आज़ादी के बाद के दशकों में हिन्दी पत्रकारिता और पत्रिकाओं की विकास-यात्रा की झलक देती है। संयोग नहीं कि प्रकृति और पर्यावरण से जुड़े अनुपम जी के कुछ दिलचस्प लेख बच्चों की पत्रिका *चकमक* में भी प्रकाशित हुए। *चकमक* में छपे ये लेख उनकी संवादधर्मिता और उनकी पहुँच की बानगी देते हैं। अनुपम जी पर्यावरण के विशेषज्ञों की सभा को सम्बोधित करते हुए जितना सहज होते, उतना ही राजस्थान और उत्तर भारत के ग्रामीणों से बतियाते हुए और बच्चों के लिए लिखते हुए भी।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस किताब के अधिकांश लेख पृथ्वी, पर्यावरण और पानी से ही जुड़े हुए हैं। साथ ही, कुछ लेख महात्मा गांधी, राजेन्द्र प्रसाद, क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आज़ाद और अनुपम जी के पिता व प्रसिद्ध कवि भवानी प्रसाद मिश्र के बारे में भी हैं। किताबों पर लिखी कुछ समीक्षानुमा टिप्पणियाँ भी हैं, जिनमें पर्यावरण से जुड़ी किताबों के साथ ही कहानी व कविता की पुस्तकें भी शामिल हैं। अनुपम मिश्र के ये लेख जलसंग्रह

की विस्मृत कर दी गई लोकपरम्परा की स्मृतियों को पुनर्जीवित करते हैं। अकाल और बाढ़ के बारे में लिखते हुए वे याद दिलाते हैं कि अकाल आने से बहुत पहले अच्छे विचारों का भी अकाल पड़ने लगता है। ठीक इसी तरह बाढ़ आने से पहले ही बुरे विचारों की बाढ़ आ जाती है। अपने इन लेखों में अनुपम मिश्र पर्यावरण संरक्षण के सरकारी दिखावे की भी पोल खोलते हैं और पर्यावरण को बचाने के लिए समाज का, आमजन का आह्वान करते हैं।

नदियों के स्वभाव का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि 'नदी का भी अपना एक धर्म होता है, एक स्वभाव होता है। नदी का धर्म है बहते रहना। इस दौर में हमने विकास के नाम पर तकनीकी सहायता से नदी के इस धर्म को पूरी तरह बदल दिया है। उसे हम कहीं भी रोक सकते हैं, कहीं भी मोड़ सकते हैं और कहीं भी उसको सुखा भी सकते हैं और बहा सकते हैं।' नदियों पर भारतीय समाज की निर्भरता को अनुपम जी बख़ूबी समझते थे। वे याद दिलाते हैं कि नदियों को बचाने का अर्थ है समाज को बचाना। नदियों की चिन्ता का अर्थ है अपना पुनरुद्धार। संयोग नहीं कि इस किताब में कई लेख नदियों में बढ़ते प्रदूषण, नदी के पानी को लेकर राज्यों के बीच होने वाले विवादों और दिल्ली जैसे महानगरों से पिछले सौ सालों में ग़ायब हो गए तालाबों के बारे में हैं। गंगा और दूसरी नदियों को कभी माँ और मौसी बताने वाले और कभी राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय नदी का दर्जा देने वाले नेताओं और नीति-निर्माताओं से अनुपम जी पूछते हैं कि वे नदी को नदी का दर्जा देने के लिए तैयार हैं या नहीं!

भारतीय राज्य द्वारा पहले तो बाढ़ और अकाल की समस्या के समाधान के लिए बड़े बाँधों का विकल्प सुझाया गया और इस पर ज़ोरदार तरीक़े से अमल भी हुआ। लेकिन अपेक्षा के विपरीत ये बड़े बाँध न तो बाढ़ रोक सके, न अकाल या सूखे पर इनसे लगाम कसी जा सकी। बड़े बाँधों की इस विफलता से भी राज्य और राजनेताओं का मन न भरा तो वे नदियों को जोड़ने की बात करने लगे। अनुपम जी नदी जोड़ो योजना के दिवालियेपन और इसकी अव्यावहारिकता से भी हमें वाक़िफ़ कराते हैं। वे इंजीनियर कपिल भट्टाचार्य जैसे उन लोगों की याद दिलाते हैं, जिन्होंने बड़े बाँधों के निर्माण की योजना और उसकी प्रासंगिकता पर तार्किक सवाल खड़े किए थे, लेकिन जिन्हें विकास की आँधी के सामने अनसुना कर दिया गया।

निरन्तर आवश्यकता में वृद्धि करने की सोच ने, जिसे महात्मा गांधी 'पागल दौड़' कहते थे, पर्यावरण और नदियों को भी अछूता न छोड़ा। इस भस्मासुरी प्रवृत्ति के बारे में अनुपम जी ठीक ही लिखते हैं कि 'हमने विकास की दौड़ में सब जगह एक-सी आदतों का संसार रच दिया है, पानी की एक जैसी खर्चीली माँग करने वाली जीवनशैली को आदर्श मान लिया है। अब सबको एक जैसी मात्रा में पानी चाहिए और जब नहीं मिल पाता है तो हम सारा दोष प्रकृति पर, नदियों पर थोप देते हैं।' इसी क्रम में, अनुपम मिश्र प्रकृति और मनुष्य के कैलेंडर के बीच के फ़र्क़ को भी समझाते हैं। बात चाहे भूकम्प की हो या फिर बाढ़ या अकाल की, अनुपम जी बार-बार ध्यान दिलाते हैं कि हमें अपने कैलेंडर, इतिहास और प्रकृति का कैलेंडर और उसकी घटनाओं का इतिहास याद रखना चाहिए। विकास की परियोजनाओं के नाम पर हिमालय के साथ की जा रही छेड़छाड़ के सन्दर्भ में अनुपम मिश्र चेताते हुए लिखते हैं कि 'हिमालय का कैलेंडर कोई दो करोड़ तीस लाख साल पुराना है। हमारा दो हज़ार साल का कैलेंडर सागर की एक बूँद की तरह है। बूँद का भी एक अस्तित्व होता है, लेकिन हिमालय के सामने हमारा अस्तित्व एक बूँद-भर भी नहीं है।'

अनुपम जी का समूचा लेखन लोक बुद्धि की महागाथा तो है ही, साथ ही लोक में

व्यवहृत प्रकृति और पर्यावरण से जुड़े शब्दों का अनूठा संग्रह भी है। लोक द्वारा सिरजे हुए शब्दों की सार्थकता, अर्थवत्ता बताते हुए अनुपम मिश्र सरकारी टकसाल से निकलने वाली कृत्रिम और निरर्थक शब्दावली की भी ख़बर लेते हैं। 'विकास', 'उदारीकरण', 'भूमंडलीकरण' जैसे जिन शब्दों को हम धड़ल्ले से बरतते हैं, उनके पीछे की राजनीति और वैचारिक हिंसा से भी अनुपम मिश्र हमें परिचित कराते हैं। उदारीकरण और निजीकरण जैसी नीतियों ने किस तरह एक नई क़िस्म की दासता या ग़ुलामी पैदा की है, इसके सन्दर्भ में अनुपम मिश्र लिखते हैं कि 'आज हम नए तरीक़े की चमकीली आज़ादी के ग़ुलाम हो रहे हैं। हम आज़ाद तो दिखते हैं लेकिन हम नई आर्थिक नीतियों के ग़ुलाम बन रहे हैं। यह ग़ुलामी ख़ूब पैसा कमाने, बड़ा घर ख़रीदने, बड़ी गाड़ियाँ लेने की है। यह विज्ञापन की ग़ुलामी है।' इसीलिए वे साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के नए रूपों को लेकर आगाह करते हैं और उनसे टकराने के लिए सशक्त चेतना और व्यापक जन-आन्दोलन की भूमिका को रेखांकित करते हैं। देशाटन, तीर्थाटन और पर्यटन के बीच के अन्तर को समझाते हुए और 'सामाजिक वानिकी', 'कुशल प्रबन्धन', 'सतत विकास' जैसी धारणाओं की नीर-क्षीर विवेचना करते हुए अनुपम मिश्र महर्षि पतंजलि की याद दिलाते हैं, जिन्होंने अपने महाभाष्य में कहा है कि एक भी शब्द यदि सम्यक् रीति से ज्ञात हो तथा सुप्रयुक्त हो तो वह इस लोक में और स्वर्ग में मनोरथ पूर्ण करने वाला होता है। इसी क्रम में अनुपम जी एक जगह लिखते हैं : 'समाज की चिन्ता रखने वाले साथियों और संस्थाओं के बीच एक नई शब्दावली चल गई है। इसमें 'ऐक्शन', 'फ़ील्ड वर्क', 'ग्रास रूट' जैसे शब्द आ गए हैं। इससे ऐसा लगता है कि काम का महत्त्व और वज़न ज़्यादा है और सोचना और समझना, विवेक के साथ विचार करना कुछ घटिया क़िस्म का काम है।'

महात्मा गांधी पर लिखे उनके लेख गांधी की प्रासंगिकता के सवाल को हमारी अपनी प्रासंगिकता से जोड़ देते हैं। 'यदि गांधी जी होते', अक्सर पूछे जाने वाले इस सवाल के सन्दर्भ में अनुपम मिश्र लिखते हैं कि 'अब हम मर-मर कर जिएँ और अपने हर संकट में उन्हें याद करें, सोचें कि आज यदि वे होते तो क्या करते—यह बिलकुल ठीक नहीं है। आज वे नहीं हैं। हम और आप हैं। हमसे जितना बने, उतना तो करें।' अनुपम जी सुझाते हैं कि गांधी आज के समय में कितना बचे हैं, इसकी जगह हमें इस बात पर सोचना चाहिए कि हम कितना बचे हैं। हमने ख़ुद को कितना बचाया है। बक़ौल अनुपम मिश्र, 'गांधी जी और गांधी विचार हमारे बीच में आज भी उतने ही ज़िन्दा हैं, जितने हम ज़िन्दा हैं। इसी तरह ये विचार और यह व्यक्ति उतनी ही बार मरता भी है, जितनी बार हम ख़ुद अपनी हत्या करते हैं।' अनुपम जी उन संस्थाओं, सामाजिक संगठनों से भी हमें रूबरू कराते चलते हैं, जो 'जल, जंगल, ज़मीन' को बचाने और इनके संरक्षण से जुड़ी लोक-परम्परा को सहेजने की लड़ाई लड़ रही हैं। वह चाहे मध्य प्रदेश में सक्रिय ग्राम सेवा समिति और उसके द्वारा चलाया गया 'मिट्टी बचाओ अभियान' हो, पुणे का ग्राम गौरव प्रतिष्ठान हो, उत्तराखंड का दूधातोली लोक विकास संस्थान हो या फिर राजस्थान में तरुण भारत संघ द्वारा तालाबों को संरक्षित रखने और इसके माध्यम से राजस्थान की नदियों को पुनर्जीवित करने के प्रयास हों या 'पानी पंचायत' और अरवरी संसद जैसी व्यवस्थाएँ हों। इन संस्थाओं, संगठनों और व्यवस्थाओं के स्वरूप के बारे में अनुपम जी ठीक ही लिखते हैं कि 'ये संगठन प्राय: उन लोगों के हैं जिनके लिए पर्यावरण एक विषय नहीं है, फ़ैशन नहीं बल्कि जीवन-मरण का सवाल है। और इसीलिए बिगड़ते पर्यावरण ने जहाँ-जहाँ लोगों की ज़िन्दगी पर हमला किया है वहाँ-वहाँ लोगों

ने इस परिस्थिति को जन्म देने वाले कारणों से, उससे जुड़े विभागों या प्रतीकों से लड़ाई छेड़ी है।' इन संगठनों की सफलता का श्रेय वे रचना, संघर्ष और समन्वय के विचार को देते हैं।

इसके साथ ही अनुपम जी टाँका, कुंड, जोहड़, बेरा, झालरा, बावड़ी, कुईं, नाड़ी जैसी उन समयसिद्ध और स्वयंसिद्ध व्यवस्थाओं के बारे में भी विस्तार से लिखते हैं, जिनके ज़रिए राजस्थान सरीखे कम वर्षा वाले इलाक़ों में भी लोगों ने सदियों से पानी की समस्या को बख़ूबी हल किया था। निर्माण के चरण से शुरू होकर उपयोग और संरक्षण के मामले में भी यह व्यवस्था साझीदारी के विचार पर टिकी थी। 'शामलात' की पूरी व्यवस्था ही साझीदारी की इस सोच का अनूठा उदाहरण है। साझीदारी की यह व्यवस्था जल के उस स्वभाव के अनुरूप ही थी, जिसके विषय में अनुपम जी लिखते हैं कि प्रकृति ने जल का वितरण कुछ इस ढंग से किया है कि वह स्वभाव से ही साझेपन की ओर जाता है। जल संरक्षण से जुड़ी ये व्यवस्थाएँ समाज ने अपने सैकड़ों वर्षों के अनुभवों से खड़ी की थीं, जिनमें पानी की हरेक बूँद को रजत बूँद मानकर सहेजने का भाव भी शामिल था। ज़रूरत इस बात की भी है कि हम अपने क्षेत्र में पानी की उपलब्धता के हिसाब से अपनी जीवनशैली को बदलें और उसी के अनुरूप फ़सलों का भी चुनाव करें। जैसा कि पिछली पीढ़ियों के लोग सदियों से करते आए थे। सामाजिक रीतियों, पारम्परिक प्रौद्योगिकी और स्थानीय वातावरण के तालमेल की ज़रूरत आज पहले से कहीं अधिक है।

पानी को रजत बूँदों की तरह सहेजने वाले समाज का दर्शन अभाव का नहीं, सम्पन्नता में किफ़ायत का जीवन-दर्शन था जीवन-दर्शन की इस परम्परा को लेकर चलने वाला समाज 'साफ़ माथे का समाज' था। जिसने प्रकृति से गहरा समन्वय स्थापित करने की महत्ता को सिर्फ़ जाना ही नहीं, बल्कि उसे अपना जीवन-दर्शन बनाकर अपने जीवन में अंगीकार कर लिया। अकारण नहीं कि अनुपम जी पर्यावरण के दर्शन की याद दिलाते हैं। पर्यावरण का दर्शन यानी मनुष्य के जीवन का दर्शन। पर्यावरण के इस दर्शन को वे कुछ इस तरह समझाते हैं : 'हमारी सारी पृथ्वी मिट्टी की बनी एक बड़ी गुल्लक है। इसमें जितना पैसा डालेंगे उतना ही निकाल पाएँगे। लेकिन हमने देखा है कि पिछले दौर में सारा ज़ोर 'पैसा' निकालने की तरफ़ रहा है। संचय करके गुल्लक के इस ख़ज़ाने को बढ़ाने की भूमिका लगातार कम होती जा रही है।'

समाज की इसी परम्परा से सीख लेने की बात पर ज़ोर देते हुए अनुपम जी लिखते हैं कि 'एक तरफ़ क्रूर निजीकरण के हाथों में जाने वाली एक-एक बूँद को बचाना होगा तो दूसरी तरफ़ प्रकृति से मिलने वाली एक-एक बूँद को पूरे ममत्व के साथ सहेजने की तैयारी रखनी होगी।' उनके इस विचार की तुलना जब हम जल संकट से जुड़ी वर्तमान सरकारी नीतियों से करते हैं तो हम पाते हैं कि ये सरकारी नीतियाँ अधिकांशत: ऐसी हैं कि एक जगह का जल संकट हल करने की कोशिश में दूसरी जगह का जल संकट बढ़ा देती हैं। फ़रवरी 2012 में दिए गए अपने व्याख्यान में अनुपम मिश्र मराठी के एक शब्द 'साकव' की चर्चा करते हैं। 'साकव' यानी छोटी-छोटी धाराओं या नदियों पर गाँव के लोगों द्वारा मिलकर बनाया गया पुल। साकव के हवाले से अनुपम जी पर्यावरण से जुड़े आन्दोलनों में साकव या पुल बनाने वाली प्रवृत्ति पर ज़ोर देते हैं। कहना न होगा कि ख़ुद अनुपम मिश्र अपनी कृतियों और जीवन से प्रकृति और समाज के बीच जीवनपर्यन्त साकव की भूमिका अदा करते रहे।

(अनुपम मिश्र, *बिन पानी सब सून*, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2020, पृ. 399)

लाल बहादुर वर्मा : एक बहुमंज़िली प्रतिभा

शेखर पाठक

इतिहासकार लाल बहादुर वर्मा का जन्म 10 जनवरी, 1938 को हुआ था और 16 मई, 2021 को देहरादून में उनका निधन हो गया। उनके व्यक्तित्व को अगर एक शब्द में बयान करना हो तो मैं उसे 'मुस्कुराहट' का नाम देना चाहूँगा। उनकी यह मुस्कुराहट वाममार्गी मानवता भी थी और उससे आगे समस्त जीव प्रजातियों की बुनियादी एकता पर ठहरकर नज़र डालना भी। चौरासी साल की उम्र में भी वे पदार्थवादी थे, पर एक स्वाभाविक मासूमियत से भरे हुए।

शम्भुनाथ और राजदेई के बेटे

गोरखपुर के शम्भुनाथ और बस्ती में मायके वाली राजदेई के बेटे के रूप में लाल बहादुर छपरा, बिहार में पैदा हुए थे। उनके पिता की ओवरसियरी तब वहाँ थी। ननिहाल में संग्रामी और जनप्रतिनिधियों का सिलसिला लगा रहता था। आम भारतीयों की तरह लाल बहादुर भी अपने घोषित जन्मदिन को पैदा नहीं हुए होंगे, ऐसा वे मानते थे। पर हम उन्हें मूलतः गोरखपुर का ही पूत कहेंगे, जिसके लिए वह पश्चिम से वापस आए। वहाँ वापस आने का रिवाज ही नहीं था। ऊपर से पेरिस के उनके गुरु का उन पर वरदहस्त था।

इस दम्पती के कुल 5 पुत्रियाँ और फिर 6 पुत्र जन्मे। बहिनों में तीन पर भाइयों में सिर्फ़ लाल बहादुर बचे। एक ही लाड़ले होने के कारण उनको बहुत तरह से 'बीमित' और सीमित किया गया, जिनमें उनकी नाक को छेदना या फ्रॉक पहनाना भी शामिल है। गोरखपुर के बाद कुछ साल क़रीब के क़स्बे आनन्दनगर में पिता के साथ गए। वहाँ की यादें उनको आजन्म आती रहीं। गन्ना मिल परिसर, बँगले तथा मिल की ख़ुशबू उसके मन में बनी रही।

15 अगस्त, 1947 के बाद

यह 1947 का दौर था। यहीं स्कूल में प्रवेश और उसके बाद पहले 15 अगस्त का रोमांचक अनुभव। पहला इनाम। क़स्बाई जीवन के सब अनुभवों से होकर वे गुज़रे। उनको भी अपने

शुरुआती शिक्षक बहुत याद रहे। जुआ खेलना सीखा और निहाल जैसा अनोखा दोस्त मिला। इसी बीच दोस्त के प्रभाव से एक समाजवादी शिविर में भीमताल आए और पहाड़ों का एक प्रभाव अपने मन पर ले गए जो आजन्म पहाड़-प्रेम में बदल गया। जीवन के अन्त में देहरादून आ बसने के पीछे शायद वह पुराना पहाड़ी स्पर्श भी रहा हो। देहरादून के चार साल उनके जीवन के अन्तिम साल थे। साल के जंगल के पास देहरादून के इस घर में वे जम गए थे और वाक़ई बहुत बार लल्दा (यह नाम उनको अजय रावत ने दिया था) ने अपनी ख़ुशी का इज़हार किया था।

1953 में हाईस्कूल यहीं आनन्दनगर से किया था। इस बीच दीदियों के घर जाना भी होता पर अन्ततः अपने गोरखपुर आ गए। रामदत्तपुर के मकान में। यह घर शायद दादाजी के ज़माने में बना होगा। आज़ादी के बाद भी रामलीला, रिश्तेदारियों में तथा तराई फ़ार्म वाले जीजाजी के यहाँ जाना आदि चलता रहा। तभी उन्होंने तराई की तमाम ज़मीनों पर क़ब्ज़े होते, बसावटें बनते, विभाजन का दंश भुगतते लोगों को बसते और थारू जनजाति को उजड़ते देखा।

फिर गोरखपुर

इंटर और बी.ए. की पढ़ाई गोरखपुर में हुई। पूर्वांचल के सामान्य परिवार का यह बेटा छात्रसंघ का अध्यक्ष बना तो कभी बाद में शिक्षक संघ का भी। कर्मचारी भी उन्हें अपना नेता मानते रहे। असल में उनकी मूल कामना थी कि सभी छात्र, शिक्षक और कर्मचारी संगठित रहें ताकि जनता लड़ाकू बन सके, जिसका कि वे सभी हिस्सा हैं। 1957 में सेंट एंड्रूज से बी.ए. कर उन्होंने लखनऊ वि.वि. से एम.ए. (1959) और गोरखपुर विश्वविद्यालय से हरिशंकर श्रीवास्तव के निर्देशन में डॉक्टरेट (1964) की। हरिशंकर उनके न्यारे गुरु रहे जो कुछ नाइत्तफ़ाक़ियाँ रखते हुए भी उनसे बहुत प्यार करते थे। लल्दा की आत्मकथा में इसका द्रवित करने वाला प्रसंग है। उन्होंने बलिया के सतीशचन्द्र पी. जी. कॉलेज में कुछ वर्षों तक पढ़ाया भी।

इसी बीच उन्हें फ्रांसीसी सरकार का वजीफा मिला और वे सारबॉन विश्वविद्यालय एक बार फिर पढ़ने चले गए। उन्हें वहाँ रेमो ऑरों जैसे शिक्षक मिले, जिनके निर्देशन में उन्होंने 'इतिहास-लेखन की समस्याएँ' विषय पर शोध किया (1968)। वे सदा रेमो ऑरों का आभार जताते थे कि उन्होंने उन्हें इतिहास-दृष्टि के साथ जीवन-दृष्टि भी दी। उन्हीं के सम्पर्क और शिक्षण ने उन्हें इतिहास के विद्यार्थी और शिक्षक की महत्तम ज़िम्मेदारियों का भान कराया।

रेमो ऑरों (14 मार्च, 1905-17 अक्टूबर, 1983) बीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण फ्रेंच बुद्धिजीवी थे। वे सार्त्र के सबसे बड़े मित्र और प्रतिद्वंद्वी थे। प्रथम विश्वयुद्ध, रूस की क्रान्ति, द्वितीय विश्वयुद्ध, 1968 का छात्र-विद्रोह और द गॉल के शासन आदि का उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया था। उनकी किताब द *ओपियम ऑफ़ द इंटेलेक्चुअल्स* (1955) बहुत चर्चित रही, जिसमें उन्होंने कहा था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फ्रांस में मार्क्सवाद बुद्धिजीवियों के लिए अफीम की तरह हो गया था। ये बुद्धिजीवी पूँजीवाद और जनतंत्र की तो तीखी आलोचना करते थे पर मार्क्सवादी व्यवस्थाओं में हो रहे दमन, ज़्यादतियों और असहिष्णुता को बख़्श देते थे।

ऑरों से उन्होंने अपनी भाषा में लिखने, बोलने और पढ़ने का मर्म समझा। यह किसी और भाषा का निषेध नहीं था बल्कि इसका अर्थ था कि जिस भाषा में सोचते हो, उसमें

लिखो और बोलो। और पेरिस के अकादमिक जीवन को छोड़कर वे अपने मुल्क लौटे। इस तरह वे पढ़ाने को फिर गोरखपुर आए। वे बहुत अच्छी अंग्रेज़ी और फ्रेंच लिखते और बोलते थे पर पेरिस से इरादा बाँधकर लाए कि हिन्दी में बोलेंगे और लिखेंगे। यह उन्होंने आजन्म किया और डंके की चोट पर किया। उन्होंने अपनी डॉक्टरेट *ऐंग्लो इंडियन कम्युनिटी इन नाइन्टींथ सेंचुरी इंडिया* अंग्रेज़ी में लिखी तो सारबोन की थीसिस फ्रेंच में लेकिन अपनी शेष सभी किताबें हिन्दी में लिखीं। अंग्रेज़ी तथा फ्रेंच से उन्होंने बहुत सारा साहित्य हिन्दी में अनुवाद किया।

शिक्षक, शोध निर्देशक

एक शिक्षक, शोध निर्देशक तथा पाठ्यक्रम-निर्माता के रूप में उन्हें गोरखपुर विश्वविद्यालय (1969-1984), मणिपुर विश्वविद्यालय (1984-90), इलाहाबाद विश्वविद्यालय (1991-98) के साथ अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में भी याद किया जाता रहेगा, जहाँ उन्होंने इतिहास दर्शन तथा स्थानीय, क्षेत्रीय इतिहास जैसे प्रश्नपत्रों को पाठ्यक्रम में जोड़ने में योगदान दिया। उनके ज़्यादातर व्याख्यान 'जन इतिहास', 'इतिहास में आम जन' या मौखिक इतिहास की थीम पर होते। भारतीय इतिहास कांग्रेस में वे सदा सक्रिय रहे। इतिहास कांग्रेस के अलीगढ़ अधिवेशन (1994) में उन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति पर फ्रांसीसी इतिहास-लेखन की झलक दिखाने के बहाने 'जन के लिए इतिहास' का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया था। उत्तर प्रदेश इतिहास कांग्रेस के संस्थापकों में वे एक थे। मुझे टांडा, उत्तर प्रदेश के छोटे से क़स्बे में उत्तर प्रदेश इतिहास कांग्रेस का संस्थापना अधिवेशन याद है, जिसके स्थानीय सचिव एस.एन. आर. रिजवी थे। उत्तराखंड इतिहास तथा संस्कृति परिषद की स्थापना में वे प्रेरक थे और इसके अध्यक्ष भी रहे। जब तक वे मणिपुर रहे, पूर्वोत्तर इतिहास कांग्रेस में भी सक्रिय रहे।

पत्रिकाएँ और सांस्कृतिक पहलें

उन्होंने सबसे पहले *भंगिमा* (1972) पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। मुझे *भंगिमा* में हैदराबाद से निकलने वाली *कल्पना* की छवि दिखती थी। गोरखपुर तब सृजनशीलता का केन्द्र बन रहा था। अगले चार दशकों में गोरखपुर की प्रतिभाएँ पूरे देश में फैल गईं। पत्रिकाएँ, नाटक, चित्र प्रदर्शनियाँ, संगोष्ठियाँ और तरह-तरह के संवाद। इस सबमें विश्वविद्यालय की केन्द्रीयता स्वाभाविक थी। वहाँ के शिक्षकों का योगदान इस बौद्धिक-सांस्कृतिक गतिशीलता में था। बी.एन. झा, कामेश्वर सहाय भार्गव, विशुद्धानन्द पाठक, हरिशंकर श्रीवास्तव, गिरीश रस्तोगी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, डी.पी. धूलिया, केदारनाथ सिंह, परमानन्द श्रीवास्तव आदि लोग इसमें शामिल हुआ करते।

प्रकाशन-सम्पादन की यात्रा फिर *लोक चेतना* तथा *इतिहास-बोध* की ओर आई। *इतिहास-बोध* अभी हाल हाल तक प्रकाशित होती रही। इतिहास अध्ययन तथा इतिहास निर्माण के लिए कितनी ही पुस्तिकाएँ वे निकालते रहे। 1978 में उन्होंने प्रेमचन्द के गाँव में राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा का गठन किया। 1984 में देश में सांस्कृतिक आन्दोलन की दिशा को लेकर तमाम संस्कृतिकर्मियों का सम्मेलन कराया। प्रेमचन्द, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल या अदम गोंडवी के स्मृति समारोह उनके मूल स्थानों में जाकर

या अन्यत्र करने की हिम्मत उनमें और उनके साथियों में थी। *सन्धान* के सम्पादन में भी वे सुभाष गाताडे तथा मित्रों के साथ जुड़े थे। वे दशकों तक साहित्य और इतिहास के बीच के पुल, नाव और परिचयकर्ता बने रहे।

'संचेतना' जैसा नाट्य तथा सांस्कृतिक दल उनके निर्देशन में बना और अनेक नाटक भी उन्होंने लिखे। जब जगन्नाथ मिश्र बिहार के मुख्यमंत्री थे तो उन्होंने प्रेस पर पाबन्दी लगाने की कोशिश की। इसका बिहार और देश में विरोध हुआ। 'संचेतना' ने तय किया कि इसका सांस्कृतिक तरीक़े से विरोध किया जाए। लाल बहादुर ने एक नुक्कड़ नाटक लिखा 'ताला ज़ुबान पर' और संचेतना की टीम जगह-जगह नाटक करती हुई पटना तक गई। नाटक को सैकड़ों लोगों ने देखा और इसकी मुद्रित प्रति ख़रीदी भी। बिहार के पढ़ाकूपन को उन्होंने इस यात्रा में महसूस किया, जब एक दसेक साल के बच्चे ने भी नाटक की प्रति ख़रीदी।

किताबों का सिलसिला

फिर उनके एक मित्र ने मैकमिलन से हिन्दी प्रकाशन शुरू होने पर उनसे सरल हिन्दी में *यूरोप का इतिहास* (दो खंड) जैसी मौलिक किताब लिखवा ली, जिसे विद्वान और विद्वान बनना चाहने वालों के अलावा सामान्य पाठक भी पढ़कर लाभान्वित हो सकते थे। वर्ना हिन्दी में यूरोप के इतिहास पर दोयम दर्जे की किताबें ही थीं। लेखन का यह सिलसिला चलता रहा। दो भागों में *आधुनिक विश्व इतिहास, इतिहास : क्यों-क्या-कैसे?, अधूरी क्रान्तियों का इतिहास बोध* (2009), *क्रान्तियाँ तो होंगी ही, इतिहास के बारे में, कांग्रेस के सौ साल, अपने को गम्भीरता से लें, भारत की जनकथा* (2012), *मानव मुक्तिकथा, गांधीगिरी बनाम दादागिरी और गुलामगिरी, धरती हमारी माँ : संवेदना और समझ का वैश्विक परिप्रेक्ष्य* आदि अनेक किताबें लिखीं।

देहान्त से पहले उनकी एक किताब *आज़ादी का मतलब क्या* तैयार थी। अगली किताब वे फ़ासीवाद पर लिखना चाहते थे। अगले जाड़ों में केरल जाने पर वे महात्मा गांधी पर भी एक किताब लिखना चाहते थे। गांधी को वे नई और खुली नज़र से देखने को उत्सुक थे। आख़िर उस व्यक्ति की अदम्य ऊर्जा और मौलिकता का स्रोत कहाँ था, यह वे जानना चाहते थे। पिछली बार गांधी पर राम गुहा की किताबों की चर्चा उन्होंने की थी, जब मैंने उनको बताया था कि गांधी के 150 साल होते समय उनकी उत्तराखंड की यात्राओं के 90 साल हो रहे हैं। उनसे कहा कि गांधी के 1929 के बरेली-अल्मोड़ा-बागेश्वर तथा हरिद्वार-देहरादून-मसूरी मार्ग में एक चेतना यात्रा का आयोजन होना चाहिए। वे इस हेतु बहुत उत्साही थे। पर 2019 में यह सम्भव नहीं हुआ और फिर कोविड का दौर शुरू हो गया।

लल्दा की तीन औपन्यासिक और दो आत्मकथात्मक किताबें ख़ूब चर्चा में रहीं और बनी रहेंगी। *उत्तर पूर्व, मई अड़सठ, पेरिस* और *ज़िन्दगी ने एक दिन कहा* यह उनके तीन उपन्यास हैं। पहली रचना उनके मणिपुर के अनुभवों पर आधारित थी। हिन्दी साहित्य में पूर्वोत्तर उसी तरह अनुपस्थित है, जिस तरह इतिहास में। वहाँ की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विविधता औसत भारतीय बहुत कम जानता है। पूर्वोत्तर की अस्मिता को न जानने के कारण वहाँ की स्वायत्तता की समझ भी शेष भारत को कम है। इसलिए उनकी स्वायत्तता की लड़ाई को उस पूरे क्षेत्र का विद्रोह समझ लिया जाता है। शेष भारत वहाँ फ़ौज तथा पैरा मिलिटरी के साथ चाय बाग़ानों के मालिकों-मज़दूरों या ओ.एन.जी.सी.

की यूनिटों के रूप में मौजूद है। यह उपन्यास उस दृष्टि-ठहराव को तोड़ने की कोशिश है। हालाँकि पूर्वोत्तर की विविधता का पूरा भान उन्हें नहीं हो सका, ऐसा वे बार-बार जताते थे। अब हिन्दी में मुश्किल से कुछ यात्रा संस्मरण पूर्वोत्तर पर आने लगे हैं। भारत की आने वाली पीढ़ियाँ पूर्वोत्तर की विविधता को समझेंगी और नाज़ करेंगी।

दूसरा उपन्यास था पेरिस के छात्र विद्रोह पर, जिसके ताप को उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया था, जिसकी अनुगूँज को वे पेरिस प्रवास में लगातार सुनते और गुनते रहे। पेरिस की 1789, 1871 और 1968 की घटनाएँ इस शहर और देश की जीवंतता और बेचैनी का संकेत देती थीं, जिन पर उन्होंने बड़ी अनुभव-सम्पन्नता से लिखा। इतिहास के विद्यार्थी की हैसियत से उन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति और पेरिस कम्यून पर पर्याप्त प्रकाश डाला। यह इतिहास को महसूस करके लिखने जैसा था। 1991 में मुझे एक सम्मेलन में 15 दिन पेरिस में रहने का मौक़ा मिला। संयोग से हमें 'होटल बैस्टील' में रहना था, जो ऐतिहासिक बैस्टील के क़िले के बिलकुल पास था। मैंने क्योंकि उनकी किताबें पढ़ी थीं और उनसे बहुत कुछ सुना था तो मुझे उस इतिहास के पात्र और घटनाएँ जैसे साक्षात् दिखती रही थीं। एक वालंटियर ने जब हमें बताया कि यहाँ पर नेपोलियन ने भाषण दिया था तो मुझे लल्दा की याद आई।

उनका तीसरा उपन्यास *ज़िन्दगी ने एक दिन कहा* भोपाल गैस कांड पर था। 1984 की 2-3 दिसम्बर को यूनियन कार्बाइड की फैक्ट्री में दुनिया की सबसे मारक औद्योगिक दुर्घटनाओं में एक हुई थी। सरकार या कम्पनी के अनुसार तो लगभग 4 हज़ार पर ग़ैरसरकारी अनुमानों के अनुसार 15 हज़ार से अधिक लोग इसमें मारे गए। साढ़े पाँच लाख की जनसंख्या किसी न किसी रूप में प्रभावित या अपाहिज हुई। आज तक भी न पीड़ितों का पुनर्वास हुआ और न उनको पर्याप्त मुआवज़ा मिल सका (इस कांड की चेतावनी देने वाले पत्रकार राजकुमार केसवानी का पिछले सप्ताह कोरोना से भोपाल में देहान्त हो गया है)। पहले इसका नाटक रूप प्रस्तुत हुआ था। पर अन्ततः इसका औपन्यासिक रूप सामने आया। यह उनकी उस गहरी संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति थी। हुआ यह था कि अभिनेत्री सुहासिनी मुले किसी फ़िल्म की शूटिंग के लिए भोपाल आई थीं, जब यह हादसा हुआ। सुहासिनी की संवेदना और समझ ने उनको फ़िल्म का काम रोक, राहत के काम से जोड़ दिया। इस घटना को वे ही पकड़ सकते थे। यह दुर्लभ गुण ही उन्हें लाल बहादुर बनाता था।

उनकी आत्मकथा के दो खंड कम से कम सात-आठ दशकों के बहुत से समय-आयामों को हमारे सामने रखते हैं। पहले खंड को उन्होंने शीर्षक दिया था *जीवन प्रवाह में बहते हुए* (2015) और दूसरे को *बुतपरस्ती मेरा ईमान नहीं* (2019)। बहुत खुली है उनकी आत्मकथा। इन किताबों का उनकी मुस्कुराहट से ताल्लुक़ है। यानी उनके खुलेपन से। भारतीय क़स्बाई मध्यवर्ग से निकला व्यक्ति किस तरह बनता है, इस प्रक्रिया को शायद ही उन्होंने कहीं छिपाया हो। यह पारदर्शिता उनकी ऊँचाई को बनाती रही। वर्ना मध्यवर्ग के लिए किसी ऊँचाई को बुद्धिजीवी होने के बाद भी गढ़ना बहुत मुश्किल काम है। जब वे धारा के साथ बह रहे थे तब भी वे तैर रहे थे और कभी-कभार धारा के विरुद्ध भी।

इसके बाद उनका योगदान सचेष्ट और सक्रिय अनुवादक के रूप में रहा। वे तमाम देशों और भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य को विश्व-धरोहर मानते थे। इसलिए उन्होंने अनेक साहित्यिक और ऐतिहासिक किताबों का हिन्दी अनुवाद किया। उनमें एरिक हॉब्सबाम के सुप्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ *क्रान्ति का युग* (*एज ऑफ़ रिवोल्यूशन*) 2009; विक्टर ह्यूगो के उपन्यास *विपदा के मारे* (ले *मिजेरबल*); जैक लंडन के उपन्यास *आईरन ह्वील*; हावर्ड

फास्ट के चार उपन्यास *तीन क्रान्तियों का प्रवक्ता* (*सिटीजन टॉम पेन*), *वासन्ती सुबह* (*अप्रैल मार्निंग*), *अपराजित* (*अनवैंक्विस्ड*) तथा अमेरिकन; आर्थर मारविक की *नेचर ऑफ़ हिस्ट्री,* क्रिस हर्मन की *पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड* तथा *चेंजिंग वर्ल्ड विदआउट पावर* और हॉवर्ड जिन के कुछ अंश तथा बॉब डिलन के कुछ गीत प्रमुख हैं। फ्रेंच से उन्होंने फुटकर तो कई लेख, कविताएँ अनूदित कीं पर एंतोनी डी सेंत की *नन्हा राजकुमार* बहुत प्रसिद्ध हुई।

कितना कुछ वे अभी भी कर रहे थे। दरअसल जब वे कहते थे कि आजकल कुछ नहीं कर रहे हैं तो भी वे कुछ न कुछ कर रहे होते थे। जब वे जाड़ों में दक्षिण और गर्मियों में पहाड़ों में कहीं एक-दो माह रहते तो कोई न कोई पांडुलिपि बनकर उनके साथ वापस लौटती थी। साथ ही वे उस ठौर पर दोस्त बनाकर और बढ़ाकर आते थे।

खनिज और मिश्र धातुएँ

वे भी तरह-तरह के खनिजों से बने व्यक्ति थे। इतिहास तथा साहित्य को उनकी मुख्य खनिज चट्टानें माना जा सकता है। अपने होने को सिद्ध करने की कुछ मिश्र धातुएँ उन्होंने ख़ुद बनाई थीं जैसे प्रकृति प्रेम, पर्यावरण बेचैनी, उपभोग की अति की निरर्थकता, अध्यात्म को नए सिरे से समझना और गांधी तथा आंबेडकर को भी। सहृदयता और प्यार बाँटते चलो का फ़लसफ़ा उनकी एक अलग राह बना देता था। यह सोच-समझदारी उन्हें 'मठी मार्क्सवादियों' से अलग करती है। इसलिए उनकी मुख्य रुचि तमाम मुद्दों के लिए मुहिम, जनजागरण और जनान्दोलनों की तैयारी की रही। जन इतिहास की वकालत इसीलिए वे ताज़िन्दगी करते रहे। वे अतीतग्रस्तता की नहीं सदा इतिहासबोध की बात करते रहे। वे यह भी कहते रहे कि हर क्रान्ति असफल हुई लेकिन फिर भी उसने मनुष्यता को आगे बढ़ाया। इसे ही वे आदमी से इनसान बनना या जैविक से सांस्कृतिक इनसान बनना कहते थे और ऐसा इनसान बनाना उनका लक्ष्य और गन्तव्य रहा। स्वाभाविक ही इसमें कोई निश्चित पार्टी लाइन लेनी सम्भव नहीं थी। इसी तरह के संकट से सक्रिय समाजवादी और हरफनमौला कृष्णनाथ भी गुज़रे थे।

सत्य को समझना और उसका साथ देना, अन्याय का विरोध करना, मानवीयता का पक्ष लेना वे ज़रूरी मानते थे। इस त्रिभुज के बीचोंबीच एक दिल का निशान होता था। यानी वे इसे मुहब्बत से जोड़ते थे। आदान-प्रदान और संवाद से जोड़ते थे। लगातार कहते थे कि हर ज़िन्दगी में प्यार के लिए, उसे पाने और देने के लिए पर्याप्त समय और जगह होनी चाहिए। इसीलिए वे अन्त में अपने विद्यार्थियों में अपना गुरु ढूँढ़ते थे। उनके अनेक विद्यार्थी भी उनके व्यक्तित्व के अनेक कोने-अँतरों से परिचित नहीं थे। वे उतना ही जानते थे, जितना दिखता था। मुझे उनका अपने आप को छिपाना अनेक बार पकड़ में आया था। आत्मकथा तो उनकी अब आई है।

देश या विदेश में हमें सैकड़ों ऐसे छात्र, शिक्षक, अधिकारी, पत्रकार, रचनाकार और नागरिक मिल जाएँगे जिनको लाल बहादुर ने अपनी मुहब्बत से विचार और कार्यक्रमों से जोड़ा। यह तमाम लोग अनेक सामाजिक, आर्थिक या धार्मिक पृष्ठभूमियों से उगे और आए हो सकते हैं। मैं दर्जनों ऐसे नाम गिना सकता हूँ जो इस संसर्ग से विकसित हुए। राजेश मल्ल, महेंद्र प्रताप, सैयद रज़ा रिजवी, रवि प्रकाश सिन्हा, कंचन सिन्हा, शशि प्रकाश, कात्यायनी, विकास नारायण राय, बद्रीनाथ (गोरखपुर); बद्री नारायण, ललित जोशी, राकेश कुमार गुप्ता,

रमाशंकर सिंह, मृत्युंजय, अंकित पाठक (इलाहाबाद); पंकज श्रीवास्तव (दिल्ली), हितेन्द्र पटेल (कोलकाता); गिरिजा पांडे (नैनीताल); गौरव नौटियाल, अरविंद शेखर, गीता गैरोला (देहरादून) आदि कितने ही नाम लिये जा सकते हैं जिन्होंने किसी न किसी रूप में ज्ञानोदय और प्रबोधन के काम आगे बढ़ाए हैं। ये सहयोगी, विद्यार्थी और सहकर्मी उनके अन्तरंग दोस्त बन गए। आज़ादी बचाओ आन्दोलन के बनवारीलाल शर्मा से उनकी दोस्ती भी अपनी तरह की अनोखी थी।

वे अपने को इतिहास-चेतना का प्रचारक मानते थे। कभी जब हम कहते थे कि 'प्रचारकों' ने तो इस देश में तार्किकता को ख़ारिज कर साम्प्रदायिकता को पाल-पोस लिया है वे कहते कि खुलकर अपनी बात रखना किसी भी प्रचारक के लिए ज़रूरी है। देर-सबेर सत्य और तार्किकता की जीत होगी। यह भी कहते थे कि दुष्प्रचार और झूठ चाहकर भी बहुत दिन नहीं टिकते हैं। इसके लिए वे दोस्ती ज़रूरी मानते थे। वे अलग ही क़िस्म के वामपंथी थे। आज़ाद, अत्यन्त उदार और लचीले। वे किसी और अच्छी विचारधारा के मिलने पर प्रचलित वामपंथ को भी छोड़ने को तैयार थे। यह उनके सोच की पराकाष्ठा थी, जो साँचे में ढली अधिकांश साम्यवादी पार्टियों से ताल्लुक़ रखने वालों को पसन्द न थी।

मैंने किताबें बेचते हुए या तो कुछ बार इरफ़ान हबीब और हर बार लाल बहादुर वर्मा को देखा। वे तो तरह-तरह की चीज़ें बेचते थे। छोटा फोल्डर, पोस्टर, पुस्तिका, पुस्तक या पत्रिका। जैसे अनुपम मिश्र को पर्यावरण का 'सबसे बड़ा बाबू' या 'सबसे बड़ा मास्टर' कहा जाता था, वैसे ही जन साहित्य और जन इतिहास के वे हिन्दी पट्टी में 'सबसे बड़े बाबू' या 'सबसे बड़े मास्टर' थे। पर वे नाटक में हिस्सेदारी कर सकते थे और कोरस में भी। रसोई में जाकर खाना बनाने या बर्तन मलने में उनको दिक़्क़त न थी। इसी बीच फ़ुर्सत मिलते ही वे एक सिगरेट भी पी सकते थे। इसी तरह अनुपम भी कितने ही गुणों की खान थे।

7 दिसम्बर, 2013 को दिल्ली के गांधी शान्ति प्रतिष्ठान में राहुल सांकृत्यायन व्याख्यान के मौक़े पर लगभग पाँच घंटे अनुपम दा, लल्दा और मैं साथ रहे। तीन घंटे तो हम तीनों ही बतियाते रहे। यह गपशप मैं कभी नहीं भूलूँगा। दोनों एक-दूसरे के विचार संसार तथा अर्जित समझदारी में घुसना चाहते थे और दोनों को लगता था कितनी सारी चीज़ें उनकी उभयनिष्ठ हैं। एक जन गांधी के रास्ते पर्यावरण के झमेले को समझ रहा है दूसरा मार्क्स के, पर दोनों मान रहे थे कि समाज भी अपने स्तर पर टिके रहने के रास्ते खोजता है, उनका आविष्कार करता है। मार्क्स और गांधी से पहले भी ये समाज अपनी हिफ़ाज़त के रास्ते खोज रहे थे और पा भी रहे थे। हिमालय को भी अनेक तरह से देखने की अपेक्षा दोनों मुझसे कर रहे थे। हिमालय को क्षैतिज और ऊर्ध्व दोनों तरह से देखने की पद्धति दोनों को सुहाई।

कितने अवयवों से बनता है कोई

पता नहीं और कौन-कौन से अवयव थे उनमें! शायद कुछ से हमारा या अन्य मित्रों का वास्ता ही नहीं पड़ा था। शायद 1977 की बात थी। आपातकाल अभी नहीं हटा था। गुरुनानक देव विश्वविद्यालय में इतिहास पाठ्यक्रम की कोई कार्यशाला थी। मैं अपनी शिक्षक शाकंबरी जयाल के साथ और वे अपने शिक्षक हरिशंकर श्रीवास्तव के साथ वहाँ पहुँचे थे। लगभग सप्ताह-भर हम साथ रहे। हम दोनों हिन्दी में एक जैसा बोल रहे थे। वे तथ्य-प्रधान और मैं भावना-प्रधान। हरिशंकर जी ने पूछा लाल बहादुर को कब से जानते हो? मैंने कहा कि अभी

तो मिले हैं पहली बार। वे मुस्कुराए थे। मुझे उनके बारे में कुछ भी पता नहीं था। उनको भी यह पता नहीं था कि मैं अभी रंगरूटी कर रहा हूँ। मुझे अभी दो साल भी प्रवक्ता बने नहीं हुए हैं। पर हमारी कई बातें कद्दावर इतिहासकारों को नोटिस करने लायक़ लगीं। 1977 में वे एक दोस्त की तरह मेरे जीवन में आए, जल्दी ही वे मेरे शिक्षक बनते चले गए। 16 मई, 2021 को मैंने अपने दोस्त-शिक्षक को विदा किया।

लल्दा से आप भिखारी ठाकुर, बॉब डिलन, फ़ैज़, नाजिम हिकमत, गिर्दा या भूपेन हजारिका को एक साथ सुन और गुन सकते थे और इस संगीत के बाद भर्तृहरि, ब्रेष्ट या नेरुदा या बाबा नागार्जुन की कोई कविता। जब वे दो साल गोलूछीना (ज़िला अल्मोड़ा में द्वाराहाट के पास) आए तो हमने वीरेन डंगवाल के 'आएँगे उजले दिन ज़रूर आएँगे' गीत को उनके साथ गाया था। पर वे 'ज़िन्दगी लड़ती रहेगी, गाती रहेगी, नदियाँ बहती रहेंगी...' को गाना कभी नहीं भूलते थे। अपनी प्रतिभा के इतने प्रकारों को वे बहुत सहजता और स्वाभाविकता से प्रकट होने देते थे। कहीं घूमने जाने में या घूमते हुए किसी जनगीत में शामिल होने में उन्हें कोई दिक़्क़त न थी।

गोरखपुर, लखनऊ, पेरिस, इम्फाल, इलाहाबाद, दिल्ली, करनाल, फरीदाबाद, देहरादून आदि जिन क़स्बों-शहरों में वे रहे, वहाँ उनकी दोस्ती अनेक स्तरों पर थी। उनसे असहमत हो जाने वाले भी उनसे बात करते थे और उनके बिलकुल प्रतिपक्षी भी उनकी निर्भीकता और धैर्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। आपा खोना तो उन्होंने सीखा ही नहीं, ग़ुस्सा प्रकट करना भी बाद में वे भूल ही गए थे। वे विचार की लाइन तो ले सकते थे पर पार्टी लाइन उनके लिए सम्भव न थी। लकीर का फकीर बनना भी उनको स्वीकार्य नहीं था। मुक्त बुद्धिजीवी या संस्कृतिकर्मी या जन इतिहासकार या इनका मिला-जुला रूप ही वे हो सकते थे और हुए। ऐसे लोगों की ज़रूरत भी इस देश और दुनिया को रहेगी। जैसा कि वे जीवन-भर करते रहे उसका सार मनुष्यता को पूँजी, रंगभेद, साम्प्रदायिकता, असमानता, अपमान, जाति-लिंग और क्षेत्रीय भेदभाव से बचाए रहने से जुड़ा था। प्रकृति की सुरक्षा, सही और सन्तुलित इस्तेमाल के वे अन्तिम सालों में बहुत बड़े समर्थक बन गए थे। अपनी अन्तिम एक किताब में धरती के लिए माँ शब्द उनके अन्तरतम से निकला लगता है।

उन्होंने तमाम महापुरुषों की जीवनगाथा सुनाने का क्रम भी शुरू किया। भगत सिंह और आंबेडकर पर तो प्रस्तुतियाँ हो भी गई थीं। देश के आन्दोलनों से वे कभी अलग नहीं हुए। शाहीन बाग जाने को वे बेचैन रहे पर किसान आन्दोलन में तो वे हो ही आए थे। वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और उसके विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के समर्थन तथा वहाँ हो रही सत्ता-समर्थित गुंडागर्दी के विरोध में आयोजित देहरादून की जनसभा में शामिल हुए थे। ऑपरेशन के बाद उनको इधर-उधर जाना मना था। पर वे वॉकर लेकर आए और सभा को सम्बोधित किया। देहरादून में तो उन्होंने एक नई सक्रियता पैदा कर दी थी। उनका इन तमाम वर्जित कोनों-अँतरों में नज़र डालना उनके कृतित्व को एक अतिरिक्त ऊँचाई देता है।

अब जब वह शरीर से नहीं रहे तो सबसे ज़्यादा ख़ालीपन तो स्वाभाविक रूप से रजनीगंधा भाभी, बेटी आशू, बेटे सत्यम और जमाई दिगम्बर को लगेगा। जैविक, भौतिक और पारिवारिक रिश्तों की गहराई और मिठास जिन लोगों में ज़्यादा होती है वहाँ उसी अनुपात में उदासी और सूनापन प्रकट हो सकता है। रजनीगंधा भाभी कैंसर से भी लड़ रही हैं। पर इसे सिर्फ़ लाल बहादुर पद्धति से ही नियंत्रित किया जा सकता है। यानी चारों तरफ़ प्यार

और दोस्ती। गोरखपुर में हिमालय के पाद प्रदेश की मिट्‌टी से विकसित यह लाल देहरादून में हिमालय और शिवालिक के बीचोंबीच फिर उसी मिट्‌टी में मिल गया वह बीज और उर्वरता हमारे बीच छोड़ गए हैं। नई ऊर्जा को अंकुरित होना ही चाहिए।

लेखकों का परिचय एवं सम्पर्क

प्रोफ़ेसर राधावल्लभ त्रिपाठी संस्कृत और हिन्दी भाषा के बीच सेतु हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य के विभिन्न पक्षों पर उनका विपुल लेखन है। वे डॉ. हरीसिंह ग़ौर विश्वविद्यालय, सागर में प्रोफ़ेसर और राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के उपकुलपति रह चुके हैं। इस समय भोपाल में रहते हैं।

ईमेल : radhavallabh2002@gmail.com ।
मोबाइल नम्बर : 9999836088

प्रोफ़ेसर शेखर पाठक हिमालय और उससे निर्मित समाज के इतिहासकार हैं। अभी हाल ही में उन्होंने *हरी-भरी उम्मीद* शीर्षक से किताब लिखी है।

ईमेल : birkham@gmail.com । मोबाइल नम्बर : 9412085755

प्रोफ़ेसर श्रीप्रकाश शुक्ल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफ़ेसर और वहीं के भोजपुरी अध्ययन केन्द्र के समन्वयक हैं। रविदास पर उनकी किताब आने वाली है।

ईमेल : shriprakashshuklabhu@gmail.com । मोबाइल नम्बर : 9415890153

प्रोफ़ेसर हितेन्द्र पटेल हिन्दी और अंग्रेज़ी में समान रूप से लिखने वाले इतिहासकार हैं। अभी हाल ही तक वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में फ़ेलो थे। वहाँ उन्होंने इतिहास और साहित्य के सम्बन्ध पर काम किया है। रबीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता में इतिहास के प्रोफ़ेसर हैं।

ईमेल : hitenjee@gmail.com । मोबाइल नम्बर : 9836450033

प्रोफ़ेसर संतोष कुमार राय दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास पढ़ाते हैं। वे औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में दस्तकार जातियों की सामाजिक और आर्थिक दशाओं के अध्ययन, उनके अस्मिता निर्माण में रुचि रखते हैं। उनके अध्ययन की एक और भुजा भारत की आज़ादी की लड़ाई के सामाजिक आधार के विवेचन और गांधीवादी दायरों की ओर जाती है।

ईमेल : skr1000@gmail.com । मोबाइल नम्बर : +91-9818502847

डॉ. आशुतोष कुमार यूनिवर्सिटी ऑफ़ लीड्स, येल यूनिवर्सिटी, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला और नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय में फ़ेलो रहे हैं। उनकी नवीनतम पुस्तक *कुली'ज़ ऑफ़ द एम्पायर : इंडेंचर्ड इंडियंस इन सुगर कॉलोनीज़,* 1830-1920, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित है। वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के इतिहास विभाग के एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं।

ईमेल : ashutoshkranti@gmail.com । मोबाइल नम्बर : 8851027188

डॉ. मनीषा चौधरी दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हैं। अभी हाल ही में उन्होंने भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में थार के पर्यावरणीय इतिहास पर अपनी फ़ेलोशिप समाप्त की है। *ट्रेड, ट्रांसपोर्ट और टांडा* (2018) और द *इंटरनल दस्तूर क्राफ्ट* (प्राइमस, दिल्ली, 2020) उनकी महत्त्वपूर्ण किताबें हैं।

ईमेल : manishamh2004@gmail.com ।
मोबाइल नम्बर : +91-9891522019/9899150423

डॉ. चंद्रैया गोपानी गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान में सहायक प्रोफ़ेसर हैं। उनकी रुचि का क्षेत्र आन्ध्र प्रदेश में दलित आन्दोलन, घुमन्तू समुदाय, परिधीय तबक़ों की सांस्कृतिक चेतना और राजनीतिक गोलबंदियों की निर्मिति का अध्ययन है।

ईमेल : chandraiah.gopani2020@gmail.com ।
मोबाइल नम्बर : +91-99563 77352

समाजविज्ञानी **अरुण कुकसाल** हिमालयी समाज और संस्कृति पर लिखते रहे हैं। इस समय वे अपने गाँव चामी, पोस्ट सीरों, पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड में रहते हुए युवाओं और महिलाओं में उद्यमशीलता के विकास के लिए काम कर रहे हैं। पुस्तकालय संचालन और कम्प्यूटर प्रशिक्षण का काम करते हैं।

ईमेल : arunkuksal@gmail.com । मोबाइल नम्बर : 9412921293

सम्भावनाशील अध्येता **डॉ. शुभनीत कौशिक** बलिया के सतीश चन्द्र पीजी कॉलेज में इतिहास पढ़ाते हैं। हिन्दी क्षेत्र के लोकवृत्त पर उनका काम शीघ्र प्रकाशित होने वाला है।

ईमेल : shubhneetkaushik@gmail.com । मोबाइल नम्बर : 76519 81322

गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान का परिचय

गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूसी, प्रयागराज ने 2020 में अपनी स्थापना की चालीसवीं वर्षगाँठ मनाई है। एक उच्च स्तरीय फैकल्टी के साथ संस्थान समाजविज्ञान में शोध, शिक्षण और परामर्श का काम करता रहा है। लोकतंत्र, विकास और पर्यावरण, राष्ट्रीय और वैश्विक प्रवास, जनसांख्यिकी, हाशिये के समूहों, महिलाओं, दलितों, आदिवासी समूहों, पिछड़े वर्गों, अल्पसंख्यक समुदायों, घुमन्तू एवं विमुक्त जनों पर संस्थान में उच्च स्तरीय शोध कार्य किया जाता है। इसके साथ ही संस्थान राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल, दर्शन, इतिहास और भाषाई विविधता जैसे विषयों में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शोध करता रहा है। कृषि एवं वैकल्पिक विकास के मॉडलों, बीज, खाद्यान्न और पोषण के क्षेत्र में संस्थान ने हस्तक्षेपकारी शोध कार्य किए हैं। यह सभी शोधकार्य उच्च स्तरीय प्रकाशनों से पुस्तकों, शोध-आलेखों और लोकप्रिय लेखों के रूप में प्रकाशित किए जाते रहे हैं। संस्थान विभिन्न अवसरों पर देश-विदेश के प्रतिष्ठित विद्वानों, नीति-निर्माताओं, राजनेताओं और समाजसेवियों को व्याख्यान, सेमिनार और कार्यशालाओं में आमंत्रित करता है। संस्थान की नीति रही है कि वह ज्ञान के सभी सम्भव रूपों को समाज से सीखता है। वह समाज को सीखने का सबसे बेहतर दायरा (स्पेस) मानता है और इस सीखे हुए को समाज को वापस कर देता है। इस प्रकार संस्थान में सीखने-सिखाने का एक ऐसा तरीक़ा ईज़ाद किया गया है जिसके केन्द्र में देश की जनता है।

सामाजिकी के लिए सन्दर्भ-साँचा

जब आप अपना लेख लिख रहे हों तो सन्दर्भ के लिए तो फ़ुटनोट दें। फ़ुटनोट रोमन संख्या में लिखें। प्रत्येक पृष्ठ के लिए अलग से फ़ुटनोट न देकर पूरे लेख के लिए फ़ुटनोट की संख्या में एकरूपता रखें, मसलन : 1, 2, 3, ... 38, 39 आदि। फ़ुटनोट देते समय पूरा विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। केवल लेखक का नाम, वर्ष और पृष्ठ संख्या दें। यदि पृष्ठ संख्या नहीं देनी है तो केवल लेखक का नाम, वर्ष दें।

उदाहरण के लिए—वासुदेव शरण अग्रवाल (2011), 68.

जब आपका लेख समाप्त हो जाए तो सन्दर्भ को एक जगह हिन्दी भाषा के अक्षर क्रम में लिखें : अ, आ, ... क, ख, ग। फ़ुटनोट समाप्त होने पर पूर्ण विराम की जगह बिंदी (.) लगाएँ। इसी प्रकार सन्दर्भ में प्रस्तुत सामग्री में भी पूर्ण विराम की जगह बिंदी (.) लगाएँ।

वासुदेव शरण अग्रवाल (2011), भारत सावित्री : *महाभारत का एक नवीन एवं सारगर्भित अध्ययन*, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली.

सम्पादित किताबों में छपे लेखों को इस प्रकार उद्धृत करें :

सुनील अमृत (2018), 'साउथ एशिया'ज कोस्टल फ्रंटियर्स', सेडरलोफ़ और महेश रंगराजन (सम्पादक), *एट नेचर्स एज : द ग्लोबल प्रजेंट एंड लांग-टर्म हिस्ट्री*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 210-228.

जर्नल में छपे लेख का सन्दर्भ इस प्रकार दें :

पूजा बख्शी (2019), 'यौन हिंसा और भारतीय राज्य : विसंगतियों के आईने में', *प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति*, वर्ष 7, अंक 14 (जुलाई-दिसम्बर), 251-262.

वेबसाइट आदि से ली गई सामग्री में यूआरएल अवश्य दें और उस तिथि का उल्लेख करें जब आपने उस वेबसाइट पर जाकर सामग्री ली है : https://www.metmuseum.org/exhibitions/listings/2017/raghubir-singh-photographs

17 जुलाई, 2021 को देखा गया.